प्रस्तावना ॥

सब सदाशयों को ज्ञात हो कि यह " धर्मलक्षणवर्णन „ पुस्तक हमने इस विचार से छपाया है कि वैश्य वर्णस्थ आर्य पुरुषों की धर्म में रुचि बढ़े वे लोग अपने पूर्वज तुलाधार का ऐसा धर्मनिष्ठ होना कि जिसने तपस्वी ब्राह्मण जाजलि को भी धर्मोपदेश किया देख सुन वा पढ़ के धर्म विषय में उत्साह बढ़ावें । ब्रह्मर्षि, राजर्षि कहाने वाले पूर्वज ब्राह्मण क्षत्रियों के आज तक सहस्रों इतिहास उन २ को धर्म विषय में उत्साह दिलाने वाले विद्यमान हैं पर वैश्यों के धर्मविषयक पुरातन इतिहास अत्यल्प हैं । वैश्य वृत्ति करता हुआ भी मनुष्य धर्म मार्ग में आगे २ पग बढ़ा सकता, धर्मात्माओं की प्रधान कोटि में परिगणित होकर अपरिमित वा अविनाशी यश को प्राप्त कर सकता है जैसी कि तुलाधार वैश्य की अटल कीर्त्ति आज तक विद्यमान है । अर्थात् वैश्य वृत्ति करना मात्र मनुष्य को धर्म से डिगाने वाला नहीं है । परन्तु वह अपने भीतर से इतना दृढ़ हो कि "काम से, भय से वा लोभादि से तथा जीवन की आशा से भी कदापि धर्म को न त्यागूंगा„ ऐसा निष्काम निर्लोभ जितेन्द्रिय पुरुष वैश्य वृत्ति के साथ भी उत्तम कोटि का परीक्षक धर्मात्मा हो सकता है ॥

इस विषय में पाठक महाशय यह ध्यान अवश्य रक्खें कि तपस्वी ब्राह्मण जाजलि के कर्त्तव्य का खण्डन वा निकृष्टता दिखाना इस उपाख्यान का उद्देश नहीं और वैश्यवृत्ति में ही उत्तम धर्म हो सकता हो यह भी आशय यहां नहीं है किन्तु प्रकरण का आशय यह है कि अच्छी कक्षा का प्रबल तप होने पर भी अहङ्कार प्रबल पड़ जाय तो वह ठीक निर्दोष धर्म नहीं माना जायगा । क्योंकि अस्मिता नामक क्लेश अविद्या का ज्येष्ठ पुत्र है वह जहां प्रबल होगा वहां राग द्वेष तथा अभिनिवेश ये सब रहेंगे और इन के रहने पर धर्म का परिणाम वा फल शुद्ध कल्याण वा सुख निर्विघ्न कदापि नहीं हो सकता जिसका अन्त अच्छा नहीं वह ठीक धर्म भी नहीं । चाहें यों कहो कि धर्म के शिखर पर पहुंच कर भी अहङ्कार बढ़े तो मनुष्य को वही अहस्मति बहुत नीचा दिखा देती है । जाजलि को अहङ्कार हुआ था परन्तु नीचे न गिर जाने से प्रथम ही उपदेश मिल गया और जाजलि सम्हल गया । धर्म की उत्तम कोटि में तीन भाग करें तो निरभिमान निरहङ्कार होने की दशा में प्रबल तपस्वी जाजलि प्रथम कक्षा में, निरहङ्कार वैश्यवृत्ति करता हुआ धर्म मर्मज्ञानी तुलाधार द्वितीय कक्षा में और अहङ्कार से भरा जाजलि तृतीय कक्षा में हुआ अर्थात् अहङ्कार न होता तो तुलाधार से धर्मोपदेश लेने की जाजलि को आवश्यकता न थी । उत्तम तपादि में भी अहङ्कारादि बुरे और वैश्यवृत्ति आदि में भी शुद्ध सरल कोमल पूर्ण दयादि भाव से चित्त का पूर्ण होना अच्छा है । ईश्वर कृपा करे तुलाधार के समान आगे २ भी वैश्यों में से कोई २ महाशय धर्म में अग्रगन्ता होने का उद्योग करें । इस पुस्तक के श्लोकों का अर्थ नागरी भाषा में पण्डित श्यामलाल शर्मा ने किया है उस को मैंने शोधा और कहीं २ द्वितीय पैराग्राफ में भावार्थ की रीति से कुछ २ लिखा भी है । आशा है कि सब महाशय इस पुस्तक से धर्म ज्ञान द्वारा लाभ उठावेंगे । भवदीय—भीमसेन शर्मा

ओ३म् ॥

धर्मलक्षणवर्णनम् ॥

युधिष्ठिर उवाच-इमेवैमानवाःसर्वे धर्मंप्रतिविशङ्किताः ।
कोऽयंधर्मःकुतो धर्म-स्तन्मेब्रूहिपितामह! ॥ १ ॥

युधिष्ठिर भीष्म जी से पूछते हैं कि हे पितामह ! सब मनुष्य धर्म के विषय में शङ्का रखते हैं अर्थात् धर्म क्या वस्तु है और वह किस कारण से धर्म है । इस प्रश्न का उत्तर समझा कर कहिये ॥ १ ॥

धर्मस्त्वयमिहार्थःकि-ममुत्रार्थोऽपिवाभवेत् ।
उभयार्थोहिवाधर्म-स्तन्मेब्रूहिपितामह ! ॥ २ ॥

हे पितामह ! जिस धर्म को आप कहेंगे वह धर्म इस लोक में वा परलोक में कल्याणकारी है अथवा दोनों लोकों में कल्याण देने वाला है इस बात को मेरे लिये समझा कर कहिये ॥ २ ॥

भीष्म उवाच-सदाचारःस्मृतिर्वेदा-स्त्रिविधंधर्मलक्षणम् ।
चतुर्थमर्थमित्याहुः कवयोधर्मलक्षणम् ॥३॥

भीष्म उत्तर देते हैं—१ सत्पुरुषों का आचार, २ धर्मशास्त्र, ३ वेद और ४ धन को विद्वान् लोग धर्म का लक्षण बतलाते हैं ॥ ३ ॥

अर्थात् धर्मानुकूल उपार्जन करने पर भी धन चौथी कक्षा में छोटा धर्म-लक्षण है इसी से अर्थासक्त पुरुष मुख्य धर्म को नहीं जानते ॥

अपिह्युक्तानिधर्म्याणि व्यवस्यन्त्युत्तरावरे ।
लोकयात्रार्थमेवेह धर्मस्यनियमःकृतः ॥ ४ ॥

अगले और पिछले परीक्षक पहुंचे हुए मनुष्य, वेदादि में कहे धर्मयुक्त कार्यों को परमार्थ की ओर प्रधान मानते हैं । और संसार में केवल लोकनिर्वाह के लिये ही धर्म का नियम किया है ॥ ४ ॥

उभयत्रसुखोदर्क इहचैवपरत्रच ।
अलब्ध्वानिपुणंधर्मं पापःपापेनयुज्यते ॥५॥

इस लोक और परलोक में सुख देने में समर्थ धर्म को न पाकर पापी मनुष्य पाप के साथ युक्त होता है ॥ ५ ॥

नह्यपापकृत:पापान् मुच्यन्तेकेचिदापदि ।
अपापवादीभवति तदाभवतिधर्मवित् ॥
धर्मस्यनिष्ठात्वाचार-स्तमेवाश्रित्यभोत्स्यसे ॥६॥

आपत्ति आने पर कोई पापी मनुष्य कभी पाप के फल से नहीं बच सकते । जब मनुष्य पाप को छोड़ देता है तभी धर्म के स्वरूप को जान सकता है । धर्म का स्थान आचार है उसी का आश्रय कर के तुम धर्म को जानोगे ॥ ६ ॥

यथाऽधर्मसमाविष्टो धनंगृह्णातितस्कर: ।
रमतेनिर्हरन्स्तेन: परवित्तमराजके ॥ ७ ॥

जैसे धर्मरहित चोर दूसरे के धन को ग्रहण करता है और धन को चुराता हुआ अत्यन्त प्रसन्न होता है इस बात की अपेक्षा नहीं रखता कि राजा दण्ड देगा ॥ ७ ॥

यदाऽस्यतद्धरन्त्यन्ये तदाराजानमिच्छति ।
तदातेषांस्पृहयते येवैतुष्टा:स्वकैर्धनै: ॥८॥

जब उस चोर के धन को अन्य चोर चुराते हैं तब राजा के न्याय को चाहता है । और जो मनुष्य अपने धनों से सन्तुष्ट हैं उन के समान होने की इच्छा करता है ॥ ८ ॥

अभीत:शुचिरभ्येति राजद्वारमशङ्कित: ।
नहिदुश्चरितंकिंचि-दन्तरात्मनिपश्यति ॥९॥

चोरी आदि दोषों से रहित शुद्धात्मा पुरुष निर्भय और शङ्कारहित होकर राजद्वार (कचहरी) में चला जाता है । और अपने आत्मा के भीतर किंचित् भी पाप नहीं देखता ॥ ९ ॥

सत्यस्यवचनंसाधु नसत्याद्विद्यतेपरम् ।
सत्येनविधृतंसर्वं सर्वंसत्येप्रतिष्ठितम् ॥१०॥

सत्य का बोलना हितकारी है सत्य से परे और कोई उत्तम वस्तु नहीं है । सत्य ने सब को धारण कर रक्खा है सब कुछ सत्य में ही स्थित है ॥१०॥

अपिपापकृतोरौद्राः सत्यंकृत्वापृथक्पृथक् ।
अद्रोहमविसंवादं प्रवर्त्तन्तेतदाश्रयाः ॥
तेचेन्मिथोऽधृतिं कुर्य्युर्विनश्येयुरसंशयम् ॥ ११ ॥

हिंसक कठोर पापी मनुष्य भी जब मिथ्या से सत्य को भलीभांति पृथक् करके जान लेते हैं तब सत्य के आश्रय से द्रोह और कलह को छोड़ देते हैं। यदि वे धीरज (धर्म) को छोड़ देवें तो निस्सन्देह आपस में नष्ट हो जावें ॥११॥

नहर्त्तव्यंपरधन-मितिधर्मःसनातनः ।
मन्यन्तेबलवन्तस्तं दुर्बलैःसंप्रकीर्त्तितम् ॥१२ ॥

दूसरे का धन नहीं हरना चाहिये यह सनातन धर्म है। बलवान् डाकू चोर उचक्का आदि वा प्रजा को डांड़ने वाले राजादि मनुष्य इस [कि पर धन न हरना चाहिये] धर्म को निर्बलों का कहा हुआ मानते हैं ॥ १२ ॥

यदानियतिदौर्बल्य-मथैषामेवरोचते।
नह्यत्यन्तंबलवन्तो भवन्तिसुखिनोऽपि वा ॥१३॥

बलवान् पुरुषों को प्रारब्ध की निर्बलता अच्छी प्रतीत होती है। क्यों कि वे मनुष्य न बलवान् रहते और न अत्यन्त सुखी होते हैं ॥१३॥

तस्मादनार्ज्जवेबुद्धि-र्नकार्यातेकदाचन ।
असाधुभ्योऽस्यनभयं नचौरेभ्योनराजतः ।
अकिंचित्कस्यचित्कुर्वन् निर्भयःशुचिरावसेत् ॥१४॥

इस कारण तुम को पराया माल मारने के लिये कभी भी नास्तिक वा कठोर बुद्धि नहीं करनी चाहिये। घूंस द्वारा वा छल प्रपञ्चादि द्वारा परधन को न हरने वाले हृदय से बलिष्ठ पुरुष को दुर्जनों, चोरों और राजा से भय नहीं है। किन्तु किसी की कुछ हानि आदि न करता हुआ शुद्धात्मा पुरुष निर्भय हो कर रहे यह भी धर्म अवश्य है ॥ १४ ॥

सर्वतःशङ्कतेस्तेनो मृगोग्राममिवेयिवान् ।
बहुधाचरितंपाप-मन्यत्रैवानुपश्यति ॥१५॥

ग्राम में आये हुए हरिण की भांति चोर मनुष्य सबों से वा सब ओर से शङ्का करता है । और किये हुए पाप को प्रायः औरों में ही अपने तुल्य देखता है कि ये मेरे गुप्त हाल को ही शोचते होंगे ॥१५॥

मुदितःशुचिरभ्येति सर्वतोनिर्भयःसदा ।
नहिदुश्चरितंकिञ्चि—दात्मनोऽन्येषु पश्यति ॥१६॥

निर्दोष शुद्धात्मा पुरुष सदा सब ओर से निर्भय हो कर (न्यायालयादि में) चला जाता है । और अपने पाप को दूसरों में नहीं देखता कि मेरे पाप को कोई जानता होगा वा जानलेगा ॥१६॥

दातव्यमित्ययंधर्म उक्तोभूतहितेरतैः ।
तंमन्यन्तेधनयुताः कृपणैःसम्प्रवर्त्तितम् ॥१७॥

प्राणियों के हित चाहने वाले पुरुषों ने कहा है कि दान करना धर्म है । परन्तु धनवान् लोग इस धर्म को निर्धनों का चलाया हुआ मानते हैं ॥१७॥

यदानियतिकार्पण्य—मथैषामेवरोचते ।
नह्यत्यन्तंधनवन्तो भवन्तिसुखिनोपिवा ॥ १८ ॥

धनी पुरुषों को स्वभावसंबद्ध कृपणता जब अच्छी लगती है तब वे धन के होने पर भी धनवान् नाम सन्तुष्ट तथा अतिसुखी नहीं रहते किन्तु अथाह तृष्णा सागर में गोता खाया करते हैं [को वा दरिद्रो हि विशालतृष्णः] १८

यदन्यैर्विहितंनेच्छे-दात्मनःकर्मपूरुषः ।
नतत्परेषुकुर्वीत जानन्नप्रियमात्मनः ॥ १९ ॥

मनुष्य दूसरे से किये हुए जिस काम को अपने लिये न चाहे उसे अपना अप्रिय जानता हुआ दूसरों के लिये स्वयंभी न करे ॥१९॥

योऽन्यस्यस्यादुपपतिः सकंकिंवक्तुमर्हति ।
यदन्यस्यततःकुर्य्यान् नमृष्येदितिमेमतिः ॥२०॥

जो पुरुष अन्य की स्त्री से व्यभिचार करता है वह अपनी स्त्री की ओर कुदृष्टि करने वाले को क्या कह सकता है ? यदि वह अन्य से कुछ कहेगा तो वह नहीं सहेगा । यह मेरा विचार है ॥२०॥

जीवितंय:स्वयंचेच्छेत् त्कथंसोऽन्यंप्रघातयेत् ।
यद्यदात्मनिचेच्छेत तत्परस्यापिचिन्तयेत् ॥२१॥

जो पुरुष अपने जीवन को चाहे वह दूसरे को न मारे वा न मरवावे । इसी प्रकार मनुष्य जिस २ बात को अपने लिये अच्छी मान के चाहे उसे दूसरे के लियेभी वैसा ही करना विचारे ॥ २१ ॥

अतिरिक्तै:संविभजेद् भोगैरन्यानकिंचनान् ।
एतस्मात्कारणाद्धात्रा कुसीदं संप्रवर्त्तितम् ॥२२॥

मनुष्य को उचित है कि बढ़े हुए भोगों से दरिद्रों का पालन करे । इसी कारण से ब्रह्मा ने कुसीद (व्याज) की रीति चलाई है कि मूल धन पर जो सूद लिया जाय उस से दीन दुखियों का पालन पोषण हुआ करे ॥२२॥

यस्मिंस्तुदेवा:समये संतिष्ठेरंस्तथाभवेत् ।
अथवालाभसमये स्थितिर्धर्मेऽपिशोभना ॥ २३ ॥

मनुष्य को योग्य है कि जिस मर्यादा वा मार्ग में विद्वान् लोग चलते हैं उसी में आप भी चले। अथवा प्रत्येक समय धर्म का ध्यान न रख सके तो लाभ के समय में धर्म में स्थिर रहना भी अच्छा है ॥ २३ ॥

सर्वप्रियाभ्युपगतं धर्ममाहुर्मनीषिण: ।
पश्यैतंलक्षणोद्देशं धर्माधर्मेयुधिष्ठिर ! ॥ २४ ॥

हे युधिष्ठिर ! सब बुद्धिमान् पुरुष जो अपने आत्मा को प्रिय और स्वीकृत है उसे धर्म कहते हैं । हे पुत्र ! धर्म अधर्म के विषय में इस धर्मलक्षण के अभिप्राय को समझो अभिप्राय यह कि १९ वें श्लोक से कहा आत्मसन्तुष्टिरूप धर्मलक्षण कि जैसा वर्त्ताव अन्य के द्वारा अपने लिये अच्छा मानता है वैसा ही अन्यों के साथ स्वयं करे और जिस अन्यकृत वर्त्ताव को अपने लिये अच्छा नहीं मानता वैसा अन्य के साथ भी न करे यह सर्वव्याप्त धर्म का लक्षण जानो ॥२४॥

लोकसंग्रहसंयुक्तं विधात्राविहितंपुरा ।
सूक्ष्मधर्मार्थसहितं सतांचरितमुत्तमम् ॥२५॥
धर्मलक्षणमाख्यात-मेतत्तेकुरुसत्तम ! ।
तस्मादनार्ज्जवेबुद्धि-र्नतेकार्य्याकथंचन ॥२६॥

हे कुरुकुल में उत्पन्न हुओं में श्रेष्ठ युधिष्ठिर ! पूर्वकाल में ब्रह्मा से विधान किया हुआ, लोक व्यवहार के अनुकूल, सूक्ष्म धर्म और अर्थ का साथी, सत्पुरुषों से सेवित, सर्वोत्तम धर्म का लक्षण तुम से मैंने कहा इसलिये तुम अपनी बुद्धि को नास्तिक वा कठोर कभी न करना ॥ २५ । २६ ॥

इति शान्तिपर्वणि धर्मलक्षणकथने २५८ अध्यायः ॥

युधिष्ठिर उवाच–सूक्ष्मंसाधुसमादिष्टं नियतंब्रह्मलक्षणम् ।
प्रतिभात्वस्तिमेकाचित् तांब्रूयामनुमानतः ॥१॥

युधिष्ठिर भीष्म जी से कहते हैं कि--आपने सुन्दर सूक्ष्म निश्चित धर्म का लक्षण कहा । परन्तु मेरा एक विचारविशेष है उसे अनुमानप्रमाणपूर्वक कहता हूं ॥ १ ॥

भूयांसोहृदयेयेमे प्रश्नास्तेव्याहृतास्त्वया ।
इदन्त्वन्यत्प्रवक्ष्यामि नराजन्विग्रहादिव ॥ २ ॥

मेरे हृदय में अति अधिक प्रश्न थे उन सब का उत्तर आपने दे दिया । हे राजन् पितामह ! मैं यह और कहता हूं मुझे कोई हठ नहीं है ॥ २ ॥

इमानिहिप्राणयन्ति सृजयन्त्युत्तारयन्तिच ।
नधर्मःपरिपाठेन शक्योभारत ! वेदितुम् ॥३॥
अन्योधर्मःसमस्थस्य विषमस्थस्यचापरः ।
आपदस्तुकथंशक्याः परिपाठेनवेदितुम् ॥ ॥ ४ ॥

हे भरतकुलोत्पन्न पितामह ! संसार में ये कर्म ही मनुष्य को जिलाते ये ही पैदा करते और कर्म ही दुःखों से पार करते हैं अतः धर्म के दो चार लक्षण गिनाने से धर्म नहीं जाना जा सकता । क्योंकि अच्छी दशा वाले पुरुष का अन्य धर्म है और बुरी दशाओं को प्राप्त मनुष्य का दूसरा ही धर्म है । और बुरी दशाओं (आपत्तियों) की गणना किस प्रकार से की जासक्ती है ? ॥ ३ । ४ ॥

सदाचारोमतोधर्मः सन्तस्त्वाचारलक्षणाः ।
साध्यासाध्यंकथंशक्यं सदाचारोह्यलक्षणः ॥ ५ ॥

सदाचार धर्म माना जाता है और जो पुरुष शुद्ध आचरण का सेवन करते हैं वे सत्पुरुष कहाते हैं इस से साध्य और असाध्य कर्म कुछ नहीं जाना जासकता क्योंकि सदाचार का कोई लक्षण ही नहीं ॥ ५ ॥

अर्थात् सत्पुरुष जिस को सेवन करें वह सदाचार कहाता तो सदाचार से सत्पुरुषों का लक्षण और सत्पुरुषों से सदाचार का लक्षण हुआ इस कारण दोनों की सिद्धि इतरेतराश्रय दोष से दूषित होगई । तो क्या साध्य या असाध्य है इसे कैसे जानें ? ॥

दृश्यतेहिधर्मरूपे-णाधर्म्मंप्राकृतश्चरन् ।
धर्मंचाधर्मरूपेण कश्चिदप्राकृतश्चरन् ॥ ६ ॥

क्योंकि कोई मूर्ख जन धर्मरूप से अधर्म को करता हुआ दीखपड़ता है और कोई बुद्धिमान् अधर्मरूप से धर्म को करता हुआ दृष्टिगत होता है इस कारण धर्म का लक्षण कर देना कि ऐसे कर्त्तव्य का नाम धर्म है सो नहीं बनता॥६॥

पुनरस्यप्रमाणंहि निर्दिष्टंशास्त्रकोविदैः ।
वेदवादाश्चानुयुगं ह्रसन्तीतीहनःश्रुतम् ॥ ७ ॥

फिर शास्त्रवेत्ता विद्वानों ने धर्म के निश्चय के लिये प्रमाणों को कहा है । और हमने सुना है कि वैदिक सिद्धान्तों का प्रत्येक युग में क्रमशः ह्रास होता जाता है ॥

अर्थात् वेद की मर्यादा लोक में एकसी सदा नहीं बनी रहती किन्तु मनुष्यों के बुद्धि भेद से सदा बदलती रहती है । पर वेद का कूटस्थ सिद्धान्त वेद में वैसा ही अचल सदा बना रहता है ॥ ७ ॥

अन्येकृतयुगेधर्मा-स्त्रेतायांद्वापरेपरे ।
अन्येकलयुगेधर्मा यथाशक्तिकृताइव ॥ ८ ॥

यथाशक्ति किये हुए से सत्ययुग में अन्य धर्म हैं, त्रेतायुग में दूसरे धर्म नियत हैं, द्वापर में अन्य ही धर्मों का वर्त्ताव है तथा कलियुग में कोई अन्य ही धर्म वर्त्ते जाते हैं ।

अर्थात् लोक प्रवाह के अनुसार धर्म का परिवर्त्तन सदा होता रहता है ॥८॥

आम्नायवचनंसत्य-मित्ययंलोकसंग्रहः ।
आम्नायेभ्यःपुनर्वेदाः प्रसूताःसर्वतोमुखाः ॥ ९ ॥

अच्छे मनुष्यों का सिद्धान्त है कि मन्त्रात्मकमूल वेदवचन सर्वथा सत्य है। फिर वेदों से ही सर्वव्यापक वैदिक सिद्धान्त को दिखाने वाले वेद के व्याख्यान-रूप ब्राह्मणादि ग्रन्थ वेद के तुल्य होने से वेद कहाते हुए सब ओर फैले हैं॥९॥

तेचेत्सर्वप्रमाणंवै प्रमाणंह्यत्रविद्यते ।

प्रमाणेऽप्यप्रमाणेन विरुद्धेशास्त्रताकुतः ॥ १० ॥

यदि वेदादि सच्छास्त्रों का प्रमाण तो है धर्म के निश्चय विषय में प्रमाण वर्त्तमान है। यदि अप्रमाण से प्रमाण विरुद्ध हो जावे तो उस प्रमाणशास्त्र को शास्त्रपन ही नहीं है॥

जब सूर्यरूप प्रमाण को बादल आच्छादित कर लेते, जब धुआं अग्नि का आवरण कर लेता, जब किसी के आंखों के समक्ष भीत वा टट्टी खड़ी हो जाती है और जब आंखों में जाला छा जाता है तब अन्धकाररूप अप्रमाण से सूर्यादि प्रमाण दृश्य को नहीं दिखा सकते। इसी के अनुसार जब अविद्या से बुद्धि दब जाती है तब वेदरूप चक्षु से नहीं दीखता ॥ १० ॥

धर्मस्यक्रियमाणस्य बलवद्भिर्दुरात्मभिः ।

याप्राविक्रियतेसंस्था ततःसाऽपिप्रणश्यति ॥ ११ ॥

दुरात्मा बलवान् पुरुषों से किये जाते हुए धर्म की जो २ रीति बिगड़जाती है वह भी नष्ट हो जाती है॥

अर्थात् जो दुरात्मा लोग धर्म को करने लगते हैं वे उस को बिगाड़ के उलटा अधर्म कर लेते हैं जैसे कि बालक किसी काम को करता हुआ बिगाड़ देवे। इसी कारण दुरात्मा वा शूद्रों को धर्म का अधिकार नहीं है ॥ ११ ॥

विद्मश्चैवनवाविद्मः शक्यंवावेदितुंनवा ।

अणीयान्क्षुरधाराया गरीयानपिपर्वतात् ॥ १२ ॥

हम धर्म को जानते हैं वा नहीं जानते अथवा धर्म को जान सकते हैं वा नहीं जान सकते इस में कुछ कहना नहीं बनता परन्तु इतना अवश्य जानते हैं कि धर्म क्षुर की धारा (उस्तरे की धार) से भी अतिसूक्ष्म और पहाड़ से भी बहुत बड़ा है ॥ १२ ॥

गन्धर्वनगराकारः प्रथमंसम्प्रदृश्यते ।

अन्वीक्ष्यमाणःकविभिः पुनर्गच्छत्यदर्शनम् ॥ १३ ॥

धर्म प्रथम गन्धर्वनगर के समान दीख पड़ता है। जब विद्वान् लोग उस की छान बीन करते हैं तब छिप जाता है इस का आशय यह है कि—जैसे कहीं श्वेत २ दूध दीखता है उस का विवेक करने लगो तो उस में सब से अधिक भाग जल का है वही सब खोया बनाने पर उड़ जाता है इसी लिये —दूध, जल गया कहते हैं। खोया में भी पृथिव्यादि का भाग देखें तो दूध कुछ नहीं रहता ऐसे ही धर्म में से भी नाना अंशों का विवेक हो तो शेष का पता नहीं लगता जिस को फिर धर्म कहें ॥ १३ ॥

निपानानीवगोभ्योऽपि क्षेत्रेकुल्येवभारत !।
स्मृतिर्हिशाश्वतोधर्मो विप्रहीणोनदृश्यते ॥ १४ ॥

जैसे गौओं के लिये निपान (प्याऊ) और खेती के लिये कुल्या (पानी का बरहा) हितकारी हैं इसी प्रकार हे भारत ! धर्म के जानने के लिये धर्मशास्त्र हैं धर्मशास्त्रों के द्वारा जाना हुआ धर्म हीन नहीं होता ॥ १४ ॥

कामादन्येच्छयाचान्ये कारणैरपरैस्तथा ।
असन्तोऽपिवृथाचारं भजन्तेबहवोऽपरे ॥ १५ ॥

काम से, अन्य के प्रयोजन की इच्छा से, तथा अन्य कारणों से बहुत से असत्पुरुष भी झूठ मूंठ को धर्म कासा सेवन करने लगते हैं ॥ १५ ॥

ऐसा धर्माभास [लिफाफा] संसार में दृष्टि डालो तो बहुत दीखता है॥

धर्मोभवतिसक्षिप्रं प्रलापस्त्वेवसाधुषु ।
तथैतानाहुरुन्मत्ता--नपिचावहसन्त्युत ॥ १६ ॥

आभासमात्र [धोखे की टट्टीरूप] आचरण को झट धर्म मान लिया जाता है और सच्चे धर्मात्मा सत्पुरुषों की निन्दा की जाती है। और सज्जनों को मत वाला कहते और उन का उपहास करते हैं ॥

इसी के अनुसार कहीं २ ऊपरी बनावट से अविद्वान् लोग विद्वान् बन बैठते हैं, मिथ्यावादी—सच्चे, चोर—साहूकार और नीचप्रकृति अल्पाशय—महात्मा—महाशय अपनी चालाकी से बन बैठते हैं पर उन को जानने वाले भी होते और जान भी लेते हैं। इस कारण उन का मूल दृढ़ नहीं होता ॥ १६ ॥

महाजनाह्युपावृत्ता राजधर्मसमाश्रिताः ।

नहिसर्वहितःकश्चि–दाचारःसम्प्रवर्त्तते ॥ १७ ॥

इसी उक्त कारण से महाजन विचारशील पुरुष [ब्राह्मण] धर्म से लौट कर राजधर्म के आश्रित हुए। सर्वहितकारी कोई आचार प्रवृत्त नहीं हो सक्ता॥ किन्तु संसार को छोड़ के परमार्थ के लिये एकान्त में बैठ के तप योगाभ्यास व्रत ध्यान करना किसी की हानि का हेतु नहीं है॥

तेनैवान्यःप्रभवति सोऽपरंबाधतेपुनः ।

दृश्यतेचैवसपुन–स्तुल्यरूपोयदृच्छया ॥ १८॥

पहिले आचार से द्वितीय आचार निकलता है और वह दूसरे को बाधा पहुंचाता है और फिर अकस्मात् वे दोनों एकरूप दीख पड़ते हैं ॥ १८ ॥

येनैवान्यःप्रभवति सोऽपरानपिबाधते ।

आचाराणामनैकाग्र्यं सर्वेषामुपलक्षयेत् ॥ १९ ॥

जिस से दूसरा आचार निकलता है वह अन्यों को बाधता है इस लिये मनुष्य सब आचारों की स्थिरता को न देखे। अर्थात् मध्यकोटि के धर्म को उत्तम कोटि के धर्म तुल्य स्थायी न माने ॥ १९ ॥

चिराभिपन्नःकविभिः पूर्वंधर्मउदाहृतः ।

तेनाचारेणपूर्वेण संस्थाभवतिशाश्वती ॥ २० ॥

विद्वान् सत्पुरुषों से जो चिरकाल से सेवित है वह धर्म कहा गया है। उस पूर्व आचार से बर्त्ताव करना निरन्तर सुखदायी होता है ॥ २० ॥

इति शान्तिपर्वणि धर्मलक्षणकथने

२५९ अध्यायः ॥

भीष्मउवाच--अत्राप्युदाहरन्तीम-मितिहासंपुरातनम् ।
तुलाधारस्यवाक्यानि धर्मेजाजलिनासह ॥१॥

भीष्म कहते हैं कि—धर्मविषय में [पण्डित लोग] इस पुराने इतिहास को कहते हैं जो जाजलि ऋषि के साथ तुलाधार वैश्य के वाक्य हैं ॥ १ ॥

वनेवनचरःकश्चि-ज्जाजलिर्नामवैद्विजः ।
सागरोद्देशमागम्य तपस्तेपेमहातपाः ॥ २ ॥

वन में फिरने वाले बड़े तपस्वी जाजलि नाम ब्राह्मण ने समुद्र के किसी प्रशस्त भाग को प्राप्त हो कर तप किया ॥ २ ॥

नियतोनियताहार-श्चीराजिनजटाधरः ।
मलपङ्कधरोधीमान् बहून्वर्षगणान्मुनिः ॥ ३ ॥

मृगचर्म और जटाओं को धारण करने वाले मल और कींच से लिथड़े हुए बुद्धिमान् जाजलिनामक मुनि ने नियताहार और जितेन्द्रिय हो कर बहुत वर्षों तक तप किया ॥ ३ ॥

सकदाचिन्महातेजा-जलवासोमहीपते ! ।
चचारलोकान्विप्रर्षिः प्रेक्षमाणोमनोजवः ॥ ४ ॥

हे राजन् युधिष्ठिर !—कभी उस जल में रहने वाले मन के समान वेगवान् ब्रह्मर्षि जाजलि ने लोकों को देखते हुए भ्रमण किया ॥ ४ ॥

सचिन्तयामाससमुनि-र्जलवासेकदाचन ।
विप्रेक्ष्यसागरान्तांवै महींसवनकाननाम् ॥ ५ ॥
नमयासदृशोस्तीह लोकेस्थावरजङ्गमे ।
अप्सुवैहायसंगच्छेन् मयायोऽन्यःसहेतिवै ॥ ६ ॥

कभी वह मुनि जल में रहता हुआ सागरान्त और छोटे बड़े वनों से युक्त पृथिवी को देखकर शोचने लगा कि इस लोक में जड़ और चेतनों में से मेरे समान दूसरा कोई नहीं है जो मेरे साथ जल में आकाश मार्ग से चले ॥ ५।६ ॥

अदृश्यमानोरक्षोभि-र्जलमध्येवदंस्तथा ।
अब्रुवँश्च पिशाचास्तं नैवंत्वंवक्तुमर्हसि ॥ ७ ॥

इस प्रकार जल के बीच में कहते हुए राक्षसों से अदृश्य जाजलि से पिशाचों ने कहा कि तू इस प्रकार कहने योग्य नहीं है ॥ ७ ॥

तुलाधारोवणिग्धर्मा वाराणस्यांमहायशाः ।
सोऽप्येवंनार्हतेवक्तुं यथात्वंद्विजसत्तम ! ॥ ८ ॥

बनारस में बड़े यश वाला तुलाधार नामक वैश्य रहता है वह भी इस प्रकार नहीं कह सकता जिस प्रकार हे ब्राह्मणों में श्रेष्ठ ! तुम ने कहा है ॥ ८ ॥

इत्युक्तोजाजलिर्भूतैः प्रत्युवाचमहातपाः ।
पश्येयंतमहंप्राज्ञं तुलाधारंयशस्विनम् ॥ ९ ॥

जब इस प्रकार प्राणियों ने जाजलि से कहा तब उस महातपस्वी ने उत्तर दिया कि मैं उस बड़े यश वाले बुद्धिमान् तुलाधार को देखना चाहता हूं ॥ ९ ॥

इतिब्रुवाणंतमृषिं रक्षांस्युद्धृत्यसागरात् ।
अब्रुवन्गच्छपन्थान-मास्थायेमंद्विजोत्तम ! ॥१०॥

राक्षसों ने इस प्रकार कहते हुए उस ऋषि को समुद्र से निकाल कर कहा कि हे ब्राह्मणों में उत्तम ! तुम इस मार्ग से [तुलाधार वैश्य के पास] चले जाओ ॥१०॥

इत्युक्तोजाजलिर्भूतै-र्जगामविमनास्तदा ।
वाराणस्यांतुलाधारं समासाद्यब्रवीदिदम् ॥११॥

जब प्राणियों ने इस प्रकार जाजलि से कहा तब वह उदास हो कर चल-दिया और बनारस में तुलाधार के पास पहुंच कर यह बोला ॥११॥

पूर्वकाल में वेदानुकूल न चलने वाले नास्तिकादि जाति के मनुष्य ही असुर वा राक्षस कहाते थे और दैवी सम्पत्ति वाले वेदानुयायी लोग देव कहाते थे । उन्ही राक्षसों ने ऋषि को समुद्र से निकाल कर वाराणसी का मार्ग बताया ।

युधिष्ठिरउवाच-किंकृतंदुष्करंतात कर्मजाजलिनापुरा ।
येनसिद्धिंपरांप्राप्त-स्तन्मेव्याख्यातुमर्हसि ॥ १२ ॥

युधिष्ठिर भीष्म जी से पूछते हैं कि हे पूज्य ! जाजलि ऋषि ने पहिले कौनसा कठिन धर्म कर्म किया था जिस से वह सर्वोत्तम सिद्धि को प्राप्त हो गया कृपा कर उस को व्याख्यानपूर्वक कहिये ॥१२॥

भीष्मउवाच-अतीवतपसायुक्तो घोरेणचवभूवह ।
तथोपस्पर्शनरतः सायंप्रातर्महातपाः ॥१३॥

भीष्म कहते हैं कि-वह जाजलिनामक ऋषि बड़े कठोर तप से युक्त हो गया तथा उस ने सायङ्काल और प्रातःकाल स्नानादि शौचपूर्वक ध्यानावस्थित हो कर बड़ा तप किया ॥ १३ ॥

अग्नीन्परिचरन्नित्यं स्वाध्यायपरमोद्विजः ।
वानप्रस्थविधानज्ञो जाजलिर्ज्वलितःश्रिया ॥१४॥

वानप्रस्थ आश्रम के नियमों को जानने वाला वेदपाठी तथा अग्निहोत्री वह ब्राह्मण तप की सम्पत्ति से चमक उठा ॥१४॥

वनेतपस्यतिष्ठत्स नचधर्ममवेक्षत ।
वर्षास्वाकाशशायीच हेमन्तेजलसंश्रयः ॥१५॥

वह जाजलि वन में तप करने के लिये स्थित हुआ और शरीर रक्षा के ऊपर कुछ ध्यान नहीं दिया । वर्षा ऋतु में चौड़े में रहा और हेमन्त (शीत) ऋतु में जल में निवास किया ॥१५॥

वातातपसहोग्रीष्मे नचधर्ममविन्दत ।
दुःखशय्याश्चविविधा भूमौचपरिवर्त्तते ॥१६॥

गरमियों में वायु और धूप को सहा । और अपने शरीर को सुख नहीं दिया । और पृथिवी पर दुःखपूर्वक शयन किया ॥१६॥

ततःकदाचित्समुनि-र्वर्षास्वाकाशमास्थितः ।
अन्तरीक्षाज्जलंमूर्ध्ना प्रत्यगृह्णान्मुहुर्मुहुः ॥१७॥

पश्चात् कभी वह मुनि वर्षा में आकाश को उड़ गया और ऊपर गिरते हुए जल को वार २ शिर पर लिया ॥१७॥

अथतस्यजटाःक्लिन्ना बभूवुर्ग्रथिताःप्रभो ! ।
अरण्यगमनान्नित्यं मलिनोमलसंयुतः ॥१८॥

हे राजन् युधिष्ठिर ! पानी के कारण उस की जटायें भीग कर आपस में गुथगईं । और सदा वन में फिरने से वह जाजलि मलिन रहता था ॥१८ ॥

सकदाचिन्निराहारो वायुभक्षोमहातपाः ।
तस्थौकाष्ठवदव्यग्रो नचचालसकर्हिचित् ॥१९॥

कभी वह महातपस्वी भोजन छोड़ कर वायुभक्ष हो गया और काठ के तुल्य स्थिर हो कर कभी चलायमान न हुआ ॥१९॥

तस्यस्मस्थाणुभूतस्य निर्विचेष्टस्यभारत ! ।
कुलिङ्गशकुनौराजन् नीडंशिरसिचक्रतुः ॥२०॥

हे भरतकुलोत्पन्न राजन् युधिष्ठिर ! काष्ठ के समान चेष्टारहित उस जाजलि ऋषि के शिर में कुलिङ्गनामक पक्षियों के जोड़े ने घोंसला बना लिया ॥ २० ॥

सतौदयावान्ब्रह्मर्षि–रुपप्रैक्षतदम्पती ।
कुर्वाणौनीडकंतत्र जटासुतृणतन्तुभिः ॥२१॥

उस दयावान् ब्रह्मर्षि ने–छोटे २ तिनकों से जटाओं में घोंसला बनाते हुए उन दोनों स्त्री पुरुष पक्षियों को देखा ॥२१॥

यदानसचलत्येष स्थाणुभूतोमहातपाः ।
ततस्तौसुखविश्वस्तौ सुखंतत्रोषतुस्तदा ॥२२॥

जब यह महातपस्वी काष्ठ के समान स्थिर होगया तब विश्वासी होकर वे पक्षी उस के शिर में सुखपूर्वक रहने लगे ॥२२॥

अतीतास्वथवर्षासु शरत्कालउपस्थिते ।
प्राजापत्येनविधिना विश्वासात्काममोहितौ ॥२३॥

वर्षा ऋतु के बीतने पर और शरद् ऋतु के आने पर स्वाभाविक नियमवश वे दोनों पक्षी काम से मोहित होगये ॥२३॥

तत्रापातयतांराजन् ! शिरस्यण्डानिखेचरौ ।
तान्यबुध्यततेजस्वी सविप्रःसंशितव्रतः ॥२४॥

हे राजन् ! बाद पक्षियों ने उस के शिर पर अण्डों को रख दिया । उस व्रतधारी तेजस्वी ब्राह्मण ने उन अण्डों को जान लिया कि मेरे शिर पर अण्डे रक्खे गये हैं ॥२४॥

बुद्ध्वासचमहातेजा नचचालसजाजलिः ।
धर्मेकृतमनानित्यं नाधर्मंसत्वरोचयत् ॥२५॥

वह जाजलि ऋषि उन अण्डों को जान कर चलायमान न हुआ क्योंकि वह सदा धर्म की ओर झुका रहता था इसी कारण उस ने शिर हिलाने रूप अधर्म को न किया ॥२५॥

अहन्यहनिचागत्य ततस्तौतस्यमूर्द्धनि ।
आश्वासितौनिवसतः सम्प्रहृष्टौतदाविभो ! ॥२६॥

हे राजन् ! बाद वे पक्षी अपना चारा करके प्रतिदिन अन्यत्र से आकर उस के शिर पर प्रसन्नता और विश्वासपूर्वक रहने लगे ॥२६॥

अण्डेभ्यस्त्वथपुष्टेभ्यः प्राजायन्तशकुन्तकाः ।
व्यवर्द्धन्तचतत्रैव नचाकम्पतजाजलिः ॥२७॥

बाद पके हुए अण्डों से वच्चे पैदा हुए और उसी शिर पर बड़े होने लगे परन्तु जाजलि ने अपना शिर न हिलाया ॥२७॥

सरक्षमाणस्त्वण्डानि कुलिङ्गानांधृतव्रतः ।
तथैवतस्थौधर्मात्मा निर्विचेष्टःसमाहितः ॥२८॥

वह व्रतधारी धर्मात्मा चेष्टारहित होकर ध्यानपूर्वक उन कुलिङ्गनामक पक्षी के अण्डों से निकले वच्चों की रक्षा करता हुआ पूर्व की भांति स्थिर रहा ॥२८॥

ततस्तुकालसमये बभूवुस्तेऽथपक्षिणः ।
बुबुधेतांस्तुसमुनि–र्जातपक्षान्कुलिङ्गकान् ॥२९॥

बाद कुछ समय के बीतने पर वे वच्चे पंख वाले होगये । और उस मुनि ने भी जान लिया कि वच्चों के "पर" आगये ॥२९॥

ततःकदाचित्ताँस्तत्र पश्यन्पक्षीन्यतव्रतः ।
बभूवपरमप्रीत–स्तदामतिमतांवरः ॥३०॥

बाद कभी वह अखण्डव्रती बुद्धिमानों में श्रेष्ठ जाजलि उन वच्चों को पंख वाले देख कर अत्यन्त प्रसन्न हुआ ॥ ३० ॥

तथातानपिसंवृद्धान् दृष्ट्वाचाप्नुवतांमुदम् ।
शकुनीनिर्भयौतत्र ऊषतुश्चात्मजैःसहः ॥ ३१ ॥

उसी प्रकार वे दोनों पक्षी अपने वच्चों को बढ़े हुए देख कर प्रसन्नता को प्राप्त हुए । और निर्भय होकर अपने वच्चों के साथ ऋषि के शिर में रहने लगे ३१

जातपक्षाँश्चसोऽपश्य-दुड्डीनान्पुनरागतान् ।

सायंसायंद्विजान्विप्रो नचाकम्पतजाजलिः ॥ ३२ ॥

उस जाजलि ब्राह्मण ने उन पंख वाले पक्षियों को प्रातः उड़ते हुए और प्रत्येक सायंकाल को फिर लौट कर आये हुओं को देखा परन्तु वह ब्राह्मण पूर्ववत् स्थिर ही रहा ॥ ३२ ॥

कदाचित्पुनरभ्येत्य पुनर्गच्छन्तिसन्ततम् ।

त्यक्तामातापितृभ्यांते नचाकम्पतजाजलिः ॥ ३३ ॥

और फिर कभी आकर वे बच्चे बहुत काल के लिये चले जाते । बाद उन बच्चों के माता पिता ने भी उन्हें छोड़ दिया तब भी जाजलि ने शिर को न हिलाया ॥ ३३ ॥

तथातेदिवसंचापि गत्वासायंपुनर्नृप ! ।

उपावर्त्तन्ततत्रैव निवासार्थंशकुन्तकाः ॥ ३४ ॥

हे राजन् युधिष्ठिर ! फिर वे बच्चे प्रातःकाल उड़ जाते और सायंकाल को जाजलि के शिर पर रहने के लिये फिर लौट आते ॥ ३४ ॥

कदाचिद्दिवसान्पञ्च समुत्पत्यविहङ्गमाः ।

षष्ठेऽहनिसमाजग्मु-र्नचाकम्पतजाजलिः ॥ ३५ ॥

फिर कभी वे बच्चे उस के शिर से उड़ कर पांच दिन बाहर रह कर छठे दिन लौट कर आये परन्तु जाजलि स्थिर ही रहा ॥ ३५ ॥

क्रमेणचपुनःसर्वे दिवसान्सुबहूनपि ।

नोपावर्त्तन्तशकुना जातप्राणाःस्मतेतदा ॥ ३६ ॥

जब वे बच्चे उड़ने में ठीक समर्थ हो गये तब क्रम से उड़ने लगे और बहुत दिनों में लौटकर आते थे थोड़े दिनों में नहीं लौटते थे ॥ ३६ ॥

कदाचिन्मासमात्रेण समुत्पत्यविहङ्गमाः ।

नैवागच्छँस्ततोराजन्-प्रातिष्ठतसजाजलिः ॥ ३७ ॥

और फिर कभी वे पक्षी उड़ गये और महीने भर तक लौट कर न आये तब जाजलि ऋषि ने वहां से प्रस्थान किया ॥ ३७ ॥

ततस्तेषु (प्रलीनेषु) प्रडीनेषु जाजलिर्जातविस्मयः ।
सिद्धोऽस्मीतिमतिंचक्रे ततस्तंमानआविशत् ॥ ३८ ॥

बाद उन पक्षियों के उड़ जाने पर जाजलि को बड़ा आश्चर्य वा हर्ष हुआ और अपने को सिद्ध मान लेने के कारण उस को अभिमान ने घेर लिया ॥३८॥

सतथानिर्गतान्दृष्ट्वा शकुन्तान्नियतव्रतः ।
सम्भावितात्मासंभाव्य ततःप्रीतमनाभवत् ॥ ३९ ॥

वह जितेन्द्रिय योगी उन पक्षियों को पाल कर और इस प्रकार उन को उड़ते हुए देख कर अतिप्रसन्न हुआ ॥ ३९ ॥

सनद्यांसमुपस्पृश्य तर्पयित्वाहुताशनम् ।
उदयन्तमथादित्य-मुपातिष्ठन्महातपाः ॥ ४० ॥

वह महातपस्वी जाजलि नदी में स्नान और अग्नि में हवन कर के निकलते हुए सूर्य का उपस्थान करने लगा ॥ ४० ॥

सम्भाव्यचटकान्मूर्ध्नि जाजलिर्जपतांवरः ।
आस्फोटयत्तदाकाशे धर्मःप्राप्तोमयेतिवै ॥ ४१ ॥

जप करने वालों में श्रेष्ठ जाजलि अपने शिर पर पक्षियों (चटकों) को पालकर आकाश में बड़ी गर्जनापूर्वक चिल्लाया कि मुझ को धर्म प्राप्त हो गया [अर्थात् धर्मशिखर पर पहुंचने पर मनुष्य का सब अभीष्ट सिद्ध हो जाता है इस कारण जाजलि को बड़ा हर्ष हुआ] ॥ ४१ ॥

अथान्तरीक्षेवागासीत् तांचशुश्रावजाजलिः ।
धर्मेणनसमस्त्वंवै तुलाधारस्यजाजले ! ॥ ४२ ॥

उस के कहने के बाद "आकाशवाणी" हुई और उस को जाजलि ने सुना वह यह थी कि हे जाजले ! तुम धर्म में तुलाधार वैश्य के समान नहीं हो ४२

ऐसे बड़े तपस्वी योगियों को स्वेच्छाचारी सिद्ध लोग मिलते और तत्त्वोपदेश द्वारा ठीक मार्ग दिखाते हैं। (मूर्द्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम्) इस योग सूत्र तथा (कार्यंवास्यवर्त्तते) इत्यादि योगभाष्य का भी यही अभिप्राय है ॥

वाराणस्यांमहाप्राज्ञ-स्तुलाधारःप्रतिष्ठितः ।
सोऽप्येवंनार्हतेवक्तुं यथात्वंभाषसेद्विज ! ॥ ४३ ॥

बनारस में बड़ा बुद्धिमान् तुलाधार नामक बनिया रहता है वह भी इस प्रकार नहीं कह सक्ता । हे ब्राह्मण ! जिस प्रकार तुम कहते हो ॥ ४३ ॥

सोऽमर्षवशमापन्न–स्तुलाधारदिदृक्षया ।
पृथिवीमचरद्राजन् ! यत्रसायंगृहोमुनिः ॥ ४४ ॥

हे राजन् ! जहां सन्ध्या (शाम) हो वहां रह जाने वाला वह जाजलि मुनि ऐसी आकाशवाणी को सुन कर क्रोध वश हुआ और तुलाधार के देखने की इच्छा से पृथिवी पर पर्यटन करने लगा ॥ ४४ ॥

कालेनमहतागच्छत् सतुवाराणसींपुरीम् ।
विक्रीणन्तंचपण्यानि तुलाधारंददर्शसः ॥ ४५ ॥

वह जाजलि बहुत दिनों के बाद बनारस में पहुंचा और सौदा बेंचते हुए उस तुलाधार को देखा ॥ ४५ ॥

सोऽपिदृष्ट्वैवतंविप्र–मायान्तंभाण्डजीवनः ।
समुत्थायसुसंहृष्टः स्वागतेनाभ्यपूजयत् ॥ ४६ ॥

वह भी सौदा बेंच कर जीने वाला तुलाधार उस जाजलि ब्राह्मण को देख कर ही प्रसन्न होता हुआ उठा और स्वागत से उसका सत्कार किया ॥४६॥

तुलाधार–उवाच–आयानेवासिविदितो ममब्रह्मन्नसंशयः ।
ब्रवीमियत्तुवचनं तच्छृणुष्वद्विजोत्तम! ॥४७॥

तुलाधार बोला कि–हे ब्राह्मण ! तुम आते हो यह निस्सन्देह मुझे विदित हो गया था । हे ब्राह्मणों में श्रेष्ठ ! जिस वचन को मैं कहता हूं उसे सुनो ॥४७॥

सागरानूपमाश्रित्य तपस्तप्तंत्वयामहत् ।
नचधर्मस्यसंज्ञांत्वं पुरावेत्थकथंचन ॥ ४८ ॥

तुम ने समुद्र के जलमय स्थान का आश्रय करके बड़ा तप किया है । परन्तु तुम पहिले (से) धर्म की वास्तविकता को सर्वथा नहीं जानते हो ॥ ५८ ॥

ततःसिद्धस्यतपसा तवविप्र ! शकुन्तकाः ।
क्षिप्रंशिरस्यजायन्त तेचसम्भावितास्त्वया ॥ ४९ ॥

तप करने के पश्चात् हे ब्राह्मण ! तप से सिद्ध हुए तुम्हारे शिर में पक्षी पैदा हुए और वे तुमने पाले ॥ ४९ ॥

जातपक्षायदातेच गताश्चारीमितस्ततः ।
मन्यमानस्ततोधर्मं चटकप्रभवंद्विज ! ॥ ५० ॥

जब उन पक्षियों के पंख आगये तब वे इधर उधर उड़गये परन्तु हे ब्राह्मण ! तुमने पक्षियों के पालन को धर्म का साक्षात् स्वरूप मानकर अपने हृदय में बड़ा घमंड किया ॥ ५० ॥

खेवाचंत्वमथाश्रौषी–र्माम्प्रतिद्विजसत्तम ! ।
अमर्षवशमापन्न–स्ततःप्राप्तोभवानिह ॥
करवाणिप्रियंकिन्ते तद्ब्रूहिद्विजसत्तम ! ॥ ५१ ॥

हे ब्राह्मणसत्तम ! बाद तुमने मेरे सम्बन्ध की आकाशवाणी सुनी उस को सुनकर क्रोधवश हुए आप यहां आये हैं हे मान्य ! आप का क्या प्रिय करूं उसे कहो ॥ ५१ ॥

अति शुद्ध हृदय के योगी ज्ञानी वा प्रबल धर्मात्माओं को परोक्ष विषयों का साक्षात् ज्ञान होता ही है । योग, ज्ञान तथा धर्म एक ही हैं इसी को योग शास्त्र में सूक्ष्म व्यवहित और विप्रकृष्ट (देशान्तर के वृत्तान्त का) ज्ञान कहा है । तुलाधार भी प्रबल धर्मात्मा था उस को भी परोक्ष का साक्षात् ज्ञान हो जाता था इस कारण धर्म की सूक्ष्मता पर ध्यान रखने वाले इस कथन को असंभव न समझें ॥

इतिशान्तिपर्वणि तुलाधारजाजलिसंवादे २६७ अध्यायः ॥

भीष्म उवाच–इत्युक्तःसतदातेन तुलाधारेणधीमता ।
प्रोवाचवचनंधीमान् जाजलिर्जपतांवरः ॥१॥

भीष्म जी युधिष्ठिर से कहते हैं कि जब बुद्धिमान् उन तुलाधार ने जाजलि से इस प्रकार कहा तब बुद्धिमान् जपपरायण जाजलि यह वचन बोले ॥१॥

जाजलिरुवाच–विक्रीणानःसर्वरसान् सर्वगन्धांश्चवाणिज ! ।
वनस्पतीनोषधीश्च तेषांमूलफलानिच ॥२॥
अध्यगानैष्ठिकींबुद्धिं कुतस्त्वामिदमागतम् ।
एतदाचक्ष्वमेसर्वं निखिलेनमहामते ! ॥३॥

जाजलि ने कहा कि हे वैश्य ! तुम सब रसों, सब गन्धों, वनस्पतियों, ओषधियों, मूलों और फलों को बेचते हुए योग सम्बन्धिनी बुद्धि को प्राप्त हो गये हो । हे बुद्धिमन् ! बतलाओ कि यह बुद्धि तुम को कहां से मिली ॥ २ । ३ ॥

भीष्मउवाच-एवमुक्तस्तुलाधारो ब्राह्मणेनयशस्विना ।

उवाचधर्मसूक्ष्माणि वैश्योधर्मार्थतत्त्ववित् ॥

जाजलिंकष्टतपसं ज्ञानतृप्तस्तदानृप! ॥४॥

भीष्मजी युधिष्ठिर से कहते हैं कि हे राजन् ! जब यशस्वी जाजलि ब्राह्मण ने तुलाधार से इस प्रकार प्रश्न किया तब धर्म और धन के तत्त्व को जानने वाला ज्ञानतृप्त वह वैश्य घोर तपस्वी जाजलि से धर्म के सूक्ष्मांशों को कहने लगा ॥

तुलाधारउवाच-वेदाहंजाजले ! धर्मं सरहस्यंसनातनम् ।

सर्वभूतहितंमैत्रं पुराणंयंजनाविदुः ॥५॥

तुलाधार कहता है कि हे जाजले ! मैं वेदोपनिषदों के सहित गुप्त सूक्ष्म सनातन धर्म के मर्मों को जानता हूं। जिस धर्म को महात्मा लोग सर्वहितकारी सर्वसुखदायक पुराना जानते वा कहते हैं ॥ ५ ॥

अद्रोहेणैवभूताना-मल्पद्रोहेणवापुनः ।

यावृत्तिःसपरोधर्म-स्तेनजीवामिजाजले ! ॥६॥

हे जाजले ! प्राणियों से द्रोह न रखना वा अत्यल्प द्रोह रखना यह जो वृत्ति है यही श्रेष्ठ धर्म है इसी से मैं अपना जीवननिर्वाह करता हूं ॥६॥

परच्छिन्नैःकाष्ठतृणै-र्मयेदंशरणंकृतम् ।

अलक्तंपद्मकंतुङ्गं गन्धांश्चोच्चावचांस्तथा ॥७॥

रसांश्चतांस्तान्विप्रर्षे मद्यवर्ज्यान्बहूनहम् ।

क्रीत्वावैप्रतिविक्रीणे परहस्तादमायया ॥८॥

हे ब्राह्मण ! दूसरों से काटे हुए काठ और तिनकों से मैंने यह घर बना लिया है । लाख (लाह) बिन्दियां, केशर, उत्तम मध्यम निकृष्ट कक्षा के गन्ध और मद्य को छोड़ कर अनेक रस दूसरे से धर्मपूर्वक खरीद कर धर्मपूर्वक उन्हें बेचता हूं किन्तु छल वा अहङ्कार से कुछ नहीं करता ॥७ । ८॥

सर्वेषांयःसुहृन्नित्यं सर्वेषांचहितेरतः ।
कर्मणामनसावाचा सधर्मवेदजाजले ! ॥९॥

हे जाजले ! जो मनुष्य मन वाणी कर्म से सब का मित्र और सब का हित चाहने वाला है वह धर्म को जानता वा जान सक्ता है ॥९॥

नानुरुध्येविरुध्येवा नद्वेष्मिनचकामये ।
समोऽहंसर्वभूतेषु पश्यमेजाजले! व्रतम् ॥१०॥

न मैं अधर्म से किसी वस्तु की कामना करता हूं, न मैं धर्म विरुद्ध कार्य्य को करता हूं, न किसी से द्वेष रखता हूं और न कामवश होता हूं। हे जाजले ! मैं सब प्राणियों को एकदृष्टि से देखता हूं तुम मेरे इस व्रत को देखो ॥१०॥

तुलामेसर्वभूतेषु समातिष्ठतिजाजले ! ।
नाहंपरेषांकृत्यानि प्रशंसामिनगर्हये ॥
आकाशस्येवविप्रेन्द्र ! पश्यँल्लोकस्यचित्रताम् ॥११॥

हे जाजले ! मेरी तुला (तराजू) सब प्राणियों में बराबर है। हे विप्रोत्तम! मैं आकाश के समान लोक की विचित्रता को देखता हुआ दूसरों के कामों की निन्दा तथा प्रशंसा दोनों ही नहीं करता ॥११॥

इतिमांत्वंविजानीहि सर्वलोकस्यजाजले ! ।
समंमतिमतांश्रेष्ठ ! समलोष्टाश्मकाञ्चनम् ॥१२॥

हे बुद्धिमानों में श्रेष्ठ ! जाजले ! मुझ को संसार में सबों में समान और ढेला पत्थर सोने में एक वा समान बुद्धि वाला समझो ॥ १२ ॥

यथान्धबधिरोन्मत्ता उच्छ्वासपरमाःसदा ।
दैवेनापिहितद्वारा सोमपाःपश्यतोमम ॥१४॥

जैसे ऊपर को श्वास लेने वाले दैवकृत अन्धे, बहिरे और उन्मत्त पुरुष हैं वैसे ही मेरी दृष्टि में सोमरस पीने वाले बलवान् पुरुष हैं अर्थात् मैं सब को समान जानता हूं ॥१४॥

यथावृद्धातुरकृशा निःस्पृहाविषयान्प्रति ।
तथार्थकामभोगेषु ममापिविगतास्पृहा ॥१५॥

जैसे वृद्ध, रोगी और दुर्बल प्राणी विषयों की अभिलाषा को छोड़ देते हैं वा उन से छूट जाती है वैसे ही मेरी भी अर्थ, और काम भोगों में चाहना नहीं रही अर्थात् प्राणयात्रा निर्वाहार्थ वाणिज्य करता हूं किन्तु लालच वा तृष्णा की प्रेरणा से कुछ नहीं करता ॥१४॥

न बिभेतियदाचायं यदाचास्मान्नबिभ्यति ।
यदानेच्छतिनद्वेष्टि ब्रह्मसम्पद्यतेतदा ॥१५॥

जब मनुष्य नहीं डरता और जब इस से अन्य प्राणी भी नहीं भय खाते तथा जब इस की अभिलाषा और रागद्वेष निर्मूल नष्ट हो जाते हैं तब ब्रह्म को प्राप्त हो सकता है ॥१५॥

यदानकुरुतेभावं सर्वभूतेषुपापकम् ।
कर्मणामनसावाचा ब्रह्मसम्पद्यतेतदा ॥१६॥

जब मनुष्य सब प्राणियों में मन वाणी तथा कर्म से बुरे भाव को छोड़ देता है तब वह ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है ॥१६॥

नभूतोनभविष्योऽस्ति नचधर्मोऽस्तिकश्चन ।
योऽभयःसर्वभूतानां सम्प्राप्नोत्यभयंपदम् ॥१७॥

ऐसा धर्म न हुआ न होगा न है जैसा कि सब प्राणियों को अपने से भयरहित कर देना धर्म है । जो अन्यों को निर्भय करता है वह अभय पद (मुक्ति) को प्राप्त हो जाता है ॥१७॥

यस्मादुद्विजतेलोकः सर्वोमृत्युमुखादिव ।
वाक्क्रूराद्दण्डपरुषात् सम्प्राप्नोतिमहद्भयम् ॥१९॥

जिस कठोर बोलने वाले तथा कठोर दण्ड देने वाले से सब प्राणी मृत्यु के समान डरते हैं वह बड़े भय को प्राप्त होता है ॥१९॥

यथावद्वर्त्तमानानां वृद्धानांपुत्रपौत्रिणाम् ।
अनुवर्त्तामहेवृत्ति-महिंस्राणांमहात्मनाम् ॥२०॥

हम यथायोग्य वर्त्ताव करने वाले, पुत्रपौत्रवान्, अहिंसा को परम धर्म मानने वाले वृद्ध महात्माओं के वर्त्ताव का अनुकरण करते हैं ॥२०॥

प्रनष्टःशाश्वतोधर्मः सदाचारेणमोहितः ।
तेनवैद्यस्तपस्वीवा बलवान्वाविमुह्यते ॥२१॥

सनातन धर्म नष्ट हो गया और सदाचार का विवेक करना कठिन है इस लिये विद्वान् तपस्वी और बलवान् पुरुष भी सदाचार के निर्णय में मोहित हो जाते हैं ॥२१॥

कठिनता इस से है कि धर्म और शुद्ध आचरण से सत्पुरुषों की प्रामाणिकता और उस प्रामाणिकता से सदाचार तथा धर्म की उत्तमता मानी जाती है सो अन्योन्याश्रय दोषग्रस्त है और ऊपरी बनावटी भी सत्पुरुष होते हैं ॥

आचाराज्जाजले! प्राज्ञः क्षिप्रंधर्ममवाप्नुयात् ।
एवंयः साधुभिर्दान्त-श्चरेदद्रोहचेतसा ॥२२॥

हे जाजले ! विवेकपूर्वक बुद्धिमान् पुरुष धर्म का स्वीकार करे । और सत्पुरुषों के समान जितेन्द्रिय हो कर द्रोह बुद्धि को छोड़ता हुआ विचरे ।२२।।

संसार में आभास भी सर्वव्याप्त हो रहा है इस कारण सर्व साधारण का काम नहीं है कि वह असली और नकली अंश की सहज में परीक्षा कर सके विद्वानों में पण्डिताभास, धर्म में धर्माभास और विद्या में विद्याभास कहीं २ वा प्रायः असली शुद्ध से भी अधिक चटक चमक धारण करते हैं जिस से अच्छे २ समझदार भी डिगजाने सम्भव हैं तो साधारण मनुष्यों की बात ही क्या है ? इस लिये प्रबल ज्ञानी पुरुष शुद्ध सच्चे लोगों के शासन में रहता और सब काल में किसी प्राणी को लेशमात्र भी कष्ट पहुंजाने का उद्योग न करता हुआ कोई २ पुरुष धर्म की सूक्ष्म गति को जान सकता है । अर्थात् अहिंसा जितेन्द्रियता और ज्ञान ये ही तीन वा इन का ज्ञान धर्म का मर्म जानने के लिये प्रधान साधन है

नद्यांचेहयथाकाष्ठं मुह्यमानंयदृच्छया ।
यदृच्छयैवकाष्ठेन सन्धिंगच्छेतकेनचित् ॥ २३ ॥
तत्रापराणिदारूणि संसृज्यन्तेपरस्परम् ।
तृणकाष्ठकरीषाणि कदाचिन्नसमीक्षया ॥ २४ ॥

जैसे नदी में बहता हुआ काष्ठ अकस्मात् [इत्तिफाक से] कभी किसी दूसरे काष्ठ के साथ मिल जाता है । और नदी में बहुत लकड़ियां आपस में मिलती रहती हैं तथा तृण, काष्ठ और सूखा गोबर कभी २ विना इच्छा के आपस में मिल जाते हैं ॥ २३ । २४ ॥

इसी के अनुसार अर्थ वा कामादि भोगों की तृष्णा वा इच्छा न रखता हुआ भोगों के अकस्मात् मिल जाने पर जो भोग लेता और विशेष राग द्वेष जिस को नहीं सताते वह धर्म के मर्म को जान सकता है ॥

यस्मान्नोद्विजतेभूतं जातुकिंचित्कथंचन ।
अभयंसर्वभूतेभ्यः सम्प्राप्नोतिसदामुने ! ॥ २५ ॥

हे मुने ! जिस पुरुष से कोई प्राणी कभी भी किसी प्रकार भयभीत नहीं होता वह पुरुष सदा सब प्राणियों से निर्भय रहता है । आशय यह है कि जब मनुष्य मन वाणी कर्म से सर्वथा अहिंसक हो जाता है तब सब प्राणी उस से वैर छोड़ देते हैं (अहिंसाप्रतिष्ठायांवैरत्यागः) योगसूत्र ॥ २५ ॥

यस्मादुद्विजतेविद्वन् ! सर्वलोकोवृकादिव ।
क्रोशन्तस्तीरमासाद्य यथासर्वेजलेचराः ॥ २६ ॥

हे विद्वन् ! जैसे किनारे पर आये जलजन्तु भेड़िया आदि भक्षक हिंसकों से डरते हैं वैसे जिस के समीप आने वा जाने से सब प्राणी डरते हैं [वह पुरुष महानीच वा बड़ा पापी अधर्मी है] ॥ २६ ॥

एवमेवायमाचारः प्रादुर्भूतोयतस्ततः ।
सहायवान्द्रव्यवान् सुभगोऽथपरस्तथा ॥ २७ ॥
ततस्तानेवकवयः शास्त्रेषुप्रवदन्त्युत ।
कीर्त्यर्थमल्पहृल्लेखाः पटवःकृत्स्ननिर्णयाः ॥ २८ ॥
तपोभिर्यज्ञदानैश्च वाक्यैःप्रज्ञाश्रितैस्तथा ।
प्राप्नोत्यभयदानस्य यद्यत्फलमिहाश्नुते ॥ २९ ॥

इसी प्रकार से यह आचार जिधर तिधर से प्रादुर्भूत हो गया है । जिस में बहुत सहायक हों एवम् जिस में धन हो तथा जो सुन्दर कल्याणकारी हो और जो सब से श्रेष्ठ हो वह सदाचार कहलाता है । इस लिये सम्प्रज्ञात समाधिनिष्ठ चतुर जिन के हृदय में सूक्ष्मता और हल्कापन है निश्चयात्मक पण्डित लोग कीर्त्ति के कारण उन सदाचारों को ग्रन्थों के द्वारा कहते हैं । और निश्चय करते हैं कि तप, यज्ञ, दान और हितकारी उपदेश से मनुष्य को परलोक में जो फल प्राप्त होता है । अभय दाता उस फल को यहीं इसी जन्म में भोग लेता है ॥ २७ । २८ । २९ ॥

अर्थात्–सहायक स्त्री पुत्र, मित्र कुटुम्बी, गुरु तथा शिष्यादि के साथ द्रव्य के लेन देन आदि में सौभाग्य वा उत्सव तथा विपत्ति के समय मनुष्य श्रेष्ठ उचित आचरण करे जैसा कि प्रामाणिक पुरुषों ने किया हो उस २ अंश का दृष्टान्त उस २ महात्मा के चरित्र से सीखना सदाचार है ॥

लोकेयःसर्वभूतेभ्यो ददात्यभयदक्षिणाम् ।
ससर्वयज्ञैरीजानः प्राप्नोत्यभयदक्षिणाम् ॥
नभूतानामहिंसाया ज्यायान्धर्मोऽस्तिकश्चन ॥ ३० ॥

जो पुरुष सब प्राणियों को अभय दान देता है मानो वह सब यज्ञों को करता हुआ सब प्राणियों से अभय दक्षिणा पाता है । सब प्राणियों की हिंसा के त्याग [दुःख पहुंचाने की मानस, वाचिक, कायिक चेष्टा छोड़ने] से बड़ा कोई धर्म नहीं है ॥ ३० ॥

यस्मान्नोद्विजतेभूतं जातुकिञ्चित्कथंचन ।
सोऽभयंसर्वभूतेभ्यः सम्प्राप्नोतिसदामुने ! ॥ ३१ ॥

जिस पुरुष से कभी भी किसी प्रकार कोई प्राणी भयभीत नहीं होता है हे मुने ! वह सदा के लिये सब प्राणियों से भयरहित हो जाता है ॥ ३१ ॥

यस्मादुद्विजतेलोकः सर्पाद्वेश्मगतादिव ।
नसधर्ममवाप्नोति इहलोकेपरत्रच ॥ ३२ ॥

जिस से घर में गये हुए सर्प की भांति प्राणी डरते हैं वह पुरुष इस लोक और परलोक में धर्म को प्राप्त नहीं होता ॥ ३२ ॥

सर्वभूतात्मभूतस्तु सम्यग्भूतानिपश्यतः ।
देवापिमार्गेमुह्यन्ति अपदस्यपदैषिणः ॥ ३३ ॥

सब प्राणियों को अपने समान देखने वाले संसार के तत्त्वज्ञाता मोक्ष के अभिलाषी पुरुष के मार्ग में अलिङ्ग अनिर्देश्य का चिह्न खोजने वाले विद्वान् भी घबड़ा जाते हैं ॥ ३३ ॥

दानंभूताभयस्याहुः सर्वदानेभ्यउत्तमम् ।
ब्रवीमितेसत्यमिदं श्रद्दधस्वचजाजले ! ॥ ३४ ॥

सब प्राणियों को अभयदान देना सब दानों से उत्तम दान कहलाता है । हे जाजले ! तुम से यह सत्य कहता हूं तुम मेरे वचन में श्रद्धा करो ॥ ३४ ॥

सएवसुभगोभूत्वा पुनर्भवतिदुर्भगः ।
व्यापत्तिंकर्मणांदृष्ट्वा जुगुप्सन्तिजनाःसदा ॥ ३५ ॥

एक वही पुरुष प्रथम भाग्यवान् होता है और वही दरिद्र हीन दीन हो जाता है । कर्मों के परिवर्त्तन फलों को देख कर मनुष्य सदा घबड़ाते रहते हैं॥

अकारणोहिनैवास्ति सूक्ष्मोधर्मोहिजाजले ! ।
भूतभव्यार्थमेवेह धर्मःप्रवचनंस्मृतम् ॥ ३६ ॥

हे जाजले ! सूक्ष्म धर्म कारणवाद के विना नहीं है किन्तु कारणवाद सहित है । भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान के लिये एकमात्र धर्म का स्वरूप वेद का पठन पाठन कहा गया है ॥ ३६ ॥

ऐसा ही क्यों करना आवश्यक है और हिंसा चोरी ज्वारी क्यों करना बुरा है ? इस में ठीक युक्ति कहना ही कारणवाद या हेतुवाद है। अर्थात् तर्कवाद से विरुद्ध धर्म नहीं है (यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः । मनु०)

सूक्ष्मत्वान्नसविज्ञातुं शक्यतेबहुनिह्नवः ।
उपलभ्यान्तराचान्या–नाचारानवबुध्यते ॥ ३७ ॥

धर्माभासों के कारण धर्म के सूक्ष्म होने से धर्म नहीं जाना जा सकता । मनुष्य धर्म और धर्माभासों को ठीक जानकर ही सदाचारों को जान सक्ता है ३७

येचछिन्दन्तिवृषणान् येचभिन्दन्तिनस्तकान् ।
वहन्तिमहतोभारान् बध्नन्तिदमयन्तिच ॥ ३८ ॥
हत्वासत्त्वानिखादन्ति तान्कथंनविगर्हसे ।
मानुषामानुषानेव दासभावेनभुञ्जते ॥ ३९ ॥

हे जाजले ! जो पुरुष बैलों को नपुंसक (बधिया) करते, नाक छेद कर उस में नांथ पहनाते, बहुतसा बोझा लादकर ग्रामान्तर या देशान्तर को ले जाते, उन को बांधते और दबाते–पीटते हैं तथा जो पुरुष प्राणियों को मार कर उन को खाते हैं उन को तुम निन्दित बुरा–क्यों नहीं समझते हो ? । और भी अनर्थ देखो कि मनुष्य मनुष्यों को दासपन से भोगते हैं ॥ ३८ । ३९ ॥

अर्थात् इन सब कामों में हिंसारूप प्रबल अधर्म विद्यमान है जिस के पेट में सब अधर्म आजाते हैं । पर इस की अपेक्षा रस विक्रयादि में शतांश भी अधर्म नहीं है क्योंकि यहां किसी को दुःख देने की चेष्टा कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं है । बधिया करना आदि काम दुःख दिये विना कदापि नहीं हो सकते परन्तु रस विक्रयादि विना दुःख दिये हो सकते हैं ॥

वधबन्धनिरोधेन कारयन्तिदिवानिशम् ।
आत्मनश्चापिजानाति यद्दुःखंवधबन्धने ॥ ४० ॥

मनुष्य वध और बांधने के निरोध से बैल आदि परतन्त्र प्राणियों से रात दिन काम लेता है । और अपने वध वन्धन का जो दुःख है उसे भी जानता है

पञ्चेन्द्रियेषुभूतेषु सर्वंवसतिदैवतम् ।
आदित्यश्चन्द्रमावायु-र्ब्रह्माप्राणःक्रतुर्यमः ॥४१॥

पाञ्चभौतिक इन्द्रियों में सब देवता बसते अर्थात् आदित्य, चन्द्रमा, वायु, ब्रह्मा, प्राण, क्रतु और यम रहते हैं ॥

चक्षु में आदित्य, मन में चन्द्रमा, त्वक्स्थान स्पर्शनेन्द्रिय में वायु, बुद्धि में ब्रह्मा, नासिका में प्राण, हाथों में क्रतु-यज्ञ और उपस्थेन्द्रिय में यम नाम मृत्यु रहता है (मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशत्) ॥

तानिजीवानिविक्रीय कामृतेषुविचारणा ।
अजोऽग्निर्वरुणोमेषः सूर्य्योऽश्वःपृथिवीविराट् ॥४२॥
धेनुर्वत्सश्चसोमोवै विक्रीयैतान्नसिद्ध्यति ।
कातैलेकाघृतेब्रह्मन् ! मधुन्यप्यौषधेषुवा ॥४३॥

इन देवतायुक्त इन्द्रियों वाले जीवों को वेच कर मृतों में तो कोई विचार ही नहीं । बकरे में अग्नि, मेष में जल, अश्व में सूर्य, पृथिवी में विराट् और गौ, बछड़े में सोम (चन्द्र) तत्त्व, अधिकता से रहता है । इन को वेच कर कोई सिद्ध नहीं हो सक्ता । हे ब्राह्मण ! जब मनुष्य गौ, आदि पशुओं को वेचते हैं फिर तैल, घृत, मधु और औषधि आदि के वेचने में विशेषता क्या है ?॥४२॥४३॥

धर्मशास्त्र में तैल घृत और दूध आदि रसों के बेंचने का निषेध है ।

त्र्यहेण शूद्री भवति ब्राह्मणः क्षीरविक्रयात् ।
सद्यः पतति मांसेन लाक्षया लवणेन च ।

इत्यादि अनेक वाक्यों से ऐसे वस्तुओं का बेचना ब्राह्मण के लिये मनुजी ने अधिक अनिष्ट दिखलाया तो उन वस्तुओं के वेचने में वैश्य भी कुछ दोष-भागी अवश्य ही होगा तब उस का उत्तम धर्मात्मा होना दुस्तर है । सो-(विक्रीणानः सर्वरसान्०) इत्यादि कथन द्वारा जाजलि ने तुलाधार से प्रश्न किया

था कि तुम धर्मशास्त्र से निन्दित सब रसों को बेचते हुए भी ऐसे धर्मात्मा कैसे हो गये ?। इस पर तुलाधार ने धर्मशास्त्र का खण्डन न करके अर्थात् धर्मशास्त्र की व्यवस्था लगाते हुए यह उत्तर दिया कि-धर्म के तत्त्व को सब नहीं जानते, धर्मशास्त्र के सब वाक्यों का तत्त्व शोचना आवश्यक है। सब धर्मों का मूल वा प्रधानकारण अहिंसा धर्म और सब अधर्म का मूल हिंसा अधर्म है "यस्माद-ण्वपि भूतानां द्विजान्नोत्पद्यते भयम् । तस्य देहाद्विमुक्तस्य भयं नास्ति कुतश्चन ॥ मनु० अ० ६" मन वाणी वा शरीर से वर्त्ताव करते हुए जिस पुरुष से किसीको लेशमात्र भी भय नहीं होता उस को कहीं भी भय नहीं है। जिस कर्म से अन्यों को भय वा दुःख पहुंचता है वही हिंसा है इसी अहिंसा धर्म के साथ समता और शान्ति आदि भी निवास करते हैं । जो गौ बैल आदि को कष्ट देते वा बेंचते हैं वे रस बेंचने वाले से भी अधिक हिंसा कर लेते हैं। "अहिंसा समता शान्तिर्दमः शौचममत्सरः । द्वाराण्येतानि मे विद्धि प्रियोह्यसि सदा मम ॥" अहिंसा, समता, शान्ति, दम-जितेन्द्रियता, शुद्धि और ईर्षा का त्याग ये धर्म में प्रवेश करने के द्वार हैं । इन्हीं अहिंसादि की रक्षा के लिये धर्मशास्त्र में रस बेचने आदि कामों का निषेध है सो कोई रसादिक को न बेचता हुआ भी अहिंसादि का पालन न कर पावे तो धर्मात्मा न होगा और कोई रसादि को बेंचता हुआ भी धर्म के मर्म को जान कर अहिंसादि मूल धर्म को न छोड़े तो धर्मात्मा अवश्य होगा। हिंसा अहिंसा का सम्बन्ध अन्तःकरण से है इस से विप्र-दुष्टभाव छूटना चाहिये। इन्ही विचारों से (धर्मस्य सूक्ष्मा गतिः) जनश्रुति है यह तुलाधार के समाधान का आशय जानो ॥

अदंशमशके देशे सुखसंवर्द्धितान्पशून् ।
तांश्च मातुः प्रियाञ्जान-न्नाक्रम्य बहुधा नराः ॥४४॥
बहुदंशाकुलान्देशान् नयन्ति बहुकर्दमान् ।
वाहसंपीडिता धुर्य्याः सीदन्त्यविधिनापरे ॥४५॥

डांश मच्छरों से रहित देश वा स्थान में सुखपूर्वक बढ़े हुए उन की माताओं के प्रिय पशुओं को जानते हुए मनुष्य बहुत प्रकार से दुःख देते हुए वा उन पर चढ़ कर बहुत डांश वाले तथा कीच वाले स्थान को उन्हें ले जाते हैं । हांकने वालों से पीडित होकर कोई दूसरे धुर्य (बैल आदि) बेढंगे तौर से दुःख पाते हैं ॥ ४४ । ४५ ॥

नमन्येभ्रूणहत्यापि विशिष्टातेनकर्मणा ।
कृषिंसाध्विवतिमन्यन्ते साचवृत्तिः सुदारुणा ॥ ४६ ॥

मैं समझता वा मानता हूं कि पशुओं को उक्त प्रकार से दुःख देना गर्भ-हत्या से न्यून नहीं है । कोई मनुष्य खेती को अच्छा समझते हैं सो खेती की वृत्ति बड़ी दारुण-हिंसक है ॥ ४६ ॥ गर्भहत्या में एक वार ही मरण दुःख होता पर पशुओं को वार २ बहुत दिनों तक निर्दयी लोग दुःख देते हैं इस से वह बड़ी हिंसा है ॥

भूमिंभूमिशयांश्चैव हन्तिकाष्ठमयोमुखम् ।
तथैवानुडुहोयुक्तान् समवेक्षस्वजाजले ! ॥ ४७ ॥

अयोमुख काष्ठ (हल जिस मुख में लोहे का फाला-शस्त्र लगा होता है पृथिवी और पृथिवी में रहने वाले जीवों की हत्या करता है । हे जाजले ! उसी प्रकार दुःखित हल में जुते हुए बैलों की ओर तो दृष्टि डालो कि उन को हल में जुतने से कितना कष्ट होता है ।। ४७ ।।

अघ्न्याइतिगवांनाम कएताहन्तुमर्हति ।
महच्चकाराकुशलं वृषंगांवालभेत्तुयः ॥ ४८ ॥

गौओं का अघ्न्या (किसी को दुःख न देने वाली) यह नाम है । इन गौओं को कोई मारने योग्य नहीं है । जिसने बैल वा गौ को मारा उसने अपने लिये बड़ा अनर्थ उपस्थित कर लिया ।। ४८ ।।

ऋषयोयतयोह्येत-न्नहुषेप्रत्यवेदयन् ।
गांमातरंचाप्यवधी-र्वृषभंचप्रजापतिम् ॥ ४९ ॥
अकार्य्यं नहुषाकार्षी-र्लप्स्यामस्त्वत्कृते व्यथाम्॥५०॥

जितेन्द्रिय ऋषियों ने राजा नहुष से कहा कि तुमने गोमाता और प्रजापति बैल को मार डाला । हे नहुष ! तुमने बहुत बुरा काम किया तुम्हारे कारण हम को बड़ा दुःख होगा ।। ४९ । ५० ।।

शतंचैकंचरोगाणां सर्वभूतेष्वपातयन् ।
ऋषयस्तेमहाभागाः प्रजास्वेवहिजाजले ! ॥ ५१ ॥

हे जाजले ! उन बड़े प्रतापशाली ऋषियों ने प्रजा के सब प्राणियों के ऊपर १०१ रोग गिराये ।। ५१ ।।

भ्रूणहंनहुषंत्वाहु-र्नतेहोष्यामहेहविः ।
इत्युक्त्वातेमहात्मानः सर्वतत्त्वार्थदर्शिनः ॥ ५२ ॥
ऋषयोयतयःशान्ता-स्तपसाप्रत्यवेदयन् ।
ईदृशानशिवान्घोरा-नाचारानिहजाजले ! ॥ ५३ ॥

हे जाजले ! उन ऋषियों ने राजा नहुष को भ्रूणहा कहा वा माना और राजा से कहा कि हम तेरे यहां यज्ञ नहीं करावेंगे यह कह कर सर्वतत्त्वज्ञानी जितेन्द्रिय शान्त विचारशील ऋषियों ने अपने तप के प्रभाव से इन नहुषादि कृत अति कठिन अकल्याणकारी आचाराभास अनाचारों को अपने भीतर जाना।।

यद्यपि वेद में सामान्य मनुष्य का नाम बन्धनार्थ से नहुष है और वहां शिरस्थ ज्ञानशक्तियां ऋषिपद वाच्य होंगी । तथापि यहां इतिहास के सम्बन्ध में कोई पुरुषविशेष राजा नहुष हुआ जिस ने अन्धपरम्परा के अनुसार यज्ञ में पशुवध किया जिस कारण तत्त्ववेत्ता ऋषियों ने उस नहुष को शाप दिया नीच ठहराया वह पतित हो गया ऐसा मानने में सिद्धान्त की बाधा नहीं ।।

केवलाचरितत्वात्तु निपुणोनावबुध्यसे ।
कारणाद्धर्ममन्विच्छे-न्नलोकचरितंचरेत् ॥ ५४

तुम केवल आचरणों के करने में निपुण हो धर्म के तत्त्व को नहीं समझते । मनुष्य को चाहिये कि तर्क वा कारणवादपूर्वक धर्म को समझे किन्तु संसारी पुरुषों के समान अपना वर्त्ताव न करे ।। ५४ ।।

योहन्याद्यश्चमांस्तौति तत्रापिशृणुजाजले ! ।
समौतावपिमेस्यातां नहिमेऽस्तिप्रियाप्रियम् ॥ ५५ ॥

जो मुझ को मारने के लिये उद्यत हो और जो मेरी स्तुति करता है वा करे हे जाजले ! इस विषय में भी मेरा विचार सुनो वे दोनों मेरे लिये समान हैं मैं किसी को प्रिय वा अप्रिय नहीं मानता हूं ।। ५५ ।।

एतदीदृशकंधर्मं प्रशंसन्तिमनीषिणः ।

उपपत्याहिसम्पन्नो यतिभिश्चैवसेव्यते ॥

सततंधर्मशीलैश्च निपुणोनोपलक्षितः ॥ ५६ ॥

बुद्धिमान् ऐसे (उक्तप्रकारके) धर्म की प्रशंसा करते हैं। उक्त धर्म युक्ति-युक्त और जितेन्द्रिय पुरुषों से सेवित है। यह धर्म धर्मात्मा पुरुषों से सेवित हुआ भी भलीभांति नहीं जाना जा सकता क्योंकि धर्म का तत्त्व गुहा में रहता है ५६

इति शान्तिपर्वणि तुलाधारजाजलिसंवादे २६१ अध्यायः ॥

जाजलिरुवाच—अयंप्रवर्त्तितोधर्म स्तुलांधारयतात्वया।

स्वर्गद्वारंचवृत्तिंच भूतानामवरोत्स्यते ॥१॥

जाजलि तुलाधार से बोले कि तुला (तराजू) से तोलने वाले वा उसको धारण करने वाले तुमने यह धर्मप्रवृत्त किया है इस अपने धर्म से स्वर्ग का द्वार तथा मनुष्यों की जीविका को तुम नष्ट करोगे ॥ १ ॥

कृष्यामन्नंप्रभवति ततस्त्वमपिजीवसि।

पशुभिश्चौषधीभिश्च मर्त्याजीवन्तिवाणिज ! ॥ २ ॥

हे वाणिज ! (वैश्य) खेती में अन्न उत्पन्न होता है और उस खेती से ही तुम भी जीते हो। हे तुलाधार ! पशुओं के दुग्धादि वा अन्य सहायताओं और अन्न से मनुष्य जीते हैं ॥ २ ॥

अन्न से सब का जीवन है भोजन मिलता रहे तब ही धर्म कर्म यज्ञादि करने से स्वर्ग होता है। तुम खेती को बुरा कहते हो तो खेती कोई न करेगा तब प्राणियों का जीवन और स्वर्ग का मार्ग दोनों बिगड़ेंगे ॥

ततोयज्ञःप्रभवति नास्तिक्यमपिजल्पसि।

नहिवर्त्तेदयंलोको वार्त्तामुत्सृज्यकेवलाम् ॥ ३ ॥

उन पशुओं के घृतादि पदार्थों और ओषधियों से यज्ञ किया जाता है तुम ऊटपटांग नास्तिकपन की सी बात कहते हो। यह संसार एकमात्र खेती को छोड़कर अपना निर्वाह नहीं कर सकता ॥ ३ ॥

तुलाधारउवाच-वक्ष्यामिजाजले!धर्मं नास्मिब्राह्मण!नास्तिकः।
नयज्ञंचविनिन्दामि यज्ञवित्तुसुदुर्लभः ॥ ४ ॥

तुलाधार वैश्य जाजलि से कहते हैं कि हे ब्राह्मण ! मैं वेदनिन्दक नास्तिक नहीं हूं । मैं धर्म के लक्षणों को कहता हूं और यज्ञ की निन्दा नहीं करता भगवन् ! संसार में यज्ञ को जानने वाला तो दुर्लभ है ॥ ४ ॥

नमोब्राह्मणयज्ञाय येचयज्ञविदोजनाः ।
स्वयज्ञंब्राह्मणाहित्वा क्षत्रयज्ञमिहास्थिताः ॥५॥
लुब्धैर्वित्तपरैर्ब्रह्मन् ! नास्तिकैःसम्प्रवर्त्तितम् ।
वेदवादानविज्ञाय सत्याभासमिवानृतम् ॥ ६ ॥

ब्राह्मणयज्ञ और जो उस यज्ञ को जानने वाले हैं उन के लिये नमस्कार है । ब्राह्मण लोग अपने यज्ञ को छोड़ कर क्षत्रिय यज्ञ को करने लगे । हे ब्राह्मण ! धनपरायण लोभी नास्तिक पुरुषों ने वेद के तत्त्व वा सिद्धान्तों को न जान कर सत्याभास मिथ्या प्रवृत्त करने के लिये यह किया:—

ऋषियज्ञ, जपयज्ञ, ज्ञानयज्ञ, योगयज्ञ ये ब्राह्मणोंके प्रधान यज्ञहैं इनको छोड़ दक्षिणादि लेने के लिये लोभ से ब्राह्मणों ने देवयज्ञ करना कराना स्वीकार किया और यज्ञों में पशुओं का मारना यह नास्तिकता ब्राह्मणोंने ही लोभ से प्रवृत्त की है किन्तु यह धर्म नहीं है ॥ ५ । ६ ॥

इदंदेयमिदंदेय-मितिचायं प्रशस्यते ।
अतःस्तैन्यंप्रभवति-विकर्माणिचजाजले ! ॥ ७ ॥

यह देना चाहिये और यह देना चाहिये देने से ही मनुष्य प्रशंसा पाता है । हे जाजले ! इस प्रकार मिथ्या प्रशंसादि कर के जो धन लिया जाता है वह चोरी ही है वह तथा उस धन से होने वाली सब क्रियायें कुकर्म हैं ॥ ७ ॥

यहां यज्ञादि में यजमान को दान देने की निन्दा तुलाधार का अभीष्ट नहीं है किन्तु जो ब्राह्मण दान दक्षिणा लेने के लोभ से यजमान के समक्ष दान की अधिक प्रशंसा करते हैं वा जिनने ग्रन्थों में दान की प्रशंसा लोभ से लिख दी है उन की निन्दा करना इष्ट है ॥

यद्देवसुकृतंहव्यं तेनतुष्यन्तिदेवता: ।
नमस्कारेणहविषा स्वाध्यायैरौषधैस्तथा ॥८॥

जो धर्मोपार्जित वा हिंसारहित मांसादिवर्जित हव्य है उस से देवता अग्न्यादि प्रसन्न–शुद्ध निर्दोष होते हैं तथा नमस्कार, हवि, वेद का स्वाध्याय और ओषधियों से शरीरस्थ देवता बुद्धि आदि प्रसन्न होते हैं ॥८॥

हिंसादि कर्म से किसी के मन वा इन्द्रिय संतुष्ट प्रसन्न नहीं होते इसी से मांसादि सुकृत हव्य नहीं है। इन्द्रियों में भी अग्नि आदि देवता हैं ही इसीसे इन्द्रिय देवता कहाते हैं। इन्द्रियों के तुल्य सर्वत्रस्थ देवता भी सुकृत हव्य हिंसादि दोष रहित शुद्ध से संतुष्ट प्रसन्न होते हैं ॥

पूजास्याद्देवतानांहि यथाशास्त्रनिदर्शनम् ।
इष्टापूर्त्तादसाधूनां विगुणाजायतेप्रजा ॥९॥

जैसी शास्त्रों की आज्ञा है उस के अनुसार ही देवताओं की पूजा करनी चाहिये। दुष्ट पुरुषों के यज्ञ करने तथा वापी कूप खुदाने और दान धर्मादि करने से दुर्गुणवान् सन्तान व प्रजा होती है ॥९॥

विप्रदुष्ट भाव वाले नीच पुरुष का किया श्रौत वा स्मार्त्त धर्म सिद्ध वा ठीक फलित नहीं होता किन्तु उस का उलटा परिणाम मनुष्यादि प्रजा पर होता है ॥

लुब्धेभ्योजायतेलुब्ध: समेभ्योजायतेसम: ।
यजमानास्तथात्मान–मृत्विजश्चतथाप्रजा: ॥१०॥

लोभी लालची पुरुषों से लोभी लालची ही सन्तान वा प्रजा होती तथा बीच की दशा के पुरुषों से बीच की दशा वाला अपत्य उत्पन्न होता है। यजमान पुरुष अपने आत्मजों को अपने अनुसार यज्ञ करने वाले यजमान बनाते तथा वैसे वे यजमान वा ऋत्विक् (ऋतु २ में यज्ञ करने वाले) ऋत्विज् सन्तानों वा प्रजा के उत्पादक होते हैं ॥

अर्थात् कारण के गुणों वाले ही सदा से कार्य होते हैं इस कारण धर्म की मर्यादा ठीक बांधने के लिये जड़ से सुधार होना चाहिये ॥

यज्ञात्प्रजाप्रभवति नभसोऽम्भइवामलम् ।
अग्नौप्रास्ताहुतिर्ब्रह्म–न्नादित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायतेवृष्टि–र्वृष्टेरन्नंतत:प्रजा: ॥११॥

जैसे अन्तरिक्ष से निर्मल जल प्राप्त होता है। वैसे ही यज्ञ के अनुष्ठान से प्रजा अच्छे प्रकार निर्विघ्न उत्पन्न होती है। यज्ञ उत्पत्ति की खानि है हे ब्राह्मण ! अग्नि में डालीहुई आहुति सूर्य के निकट जाती है, सूर्य से वृष्टि होती, वृष्टि से अन्न उत्पन्न होता है और उस अन्न से वीर्य बन के प्रजा के शरीर बनते हैं क्योंकि अन्न ही प्राणियों के जीवन का एक मात्र साधन है (अन्नंवै प्राणिनः प्राणाः) वात्स्यायन भाष्य ॥ ११ ॥

स्वाभाविक यज्ञ भी ऋतु आदि के परिवर्त्तन द्वारा सदा होता है जैसे अग्नि में छोड़े घृतादि का परिणामान्तर यज्ञ कहाता वैसे वसन्तरूप कोमलता का ग्रीष्म में होम हो जाता यह भी एक यज्ञ है यह भी प्राणियों की उत्पत्ति में साक्षात् कारण है ॥

तस्मात्सुनिष्ठिताःसर्वे सर्वान्कामांश्चलेभिरे ।
अकृष्टपच्यापृथिवी आशीर्भिर्वीरुधोऽभवन् ॥
नतेयज्ञेऽवात्मसुवा फलं पश्यन्तिकिञ्चन ॥ १२ ॥

यज्ञकर्त्ता पूर्वज लोगों ने यज्ञ के अनुष्ठान द्वारा सब कामनाओं की सिद्धि प्राप्त की। और यज्ञ करने से पृथिवी अकृष्टपच्या (विना जोते बोये अन्नों को पकाने वाली) हो गई। तथा अभिलाषाओं के साथ लता (वेल) गुल्म आदि पकने लगे वे लोग यज्ञों में वा अपने में फल के ऊपर दृष्टि नहीं डालते थे। अभिप्राय यह है कि जो पुरुष फल की ओर दृष्टि न करता हुआ शुभ कर्म को सर्वात्मा से करता है वह एकाग्र होने के कारण कार्य को सर्वाङ्ग से ठीक सिद्ध कर सकता है और जो पुरुष फल की ओर चाहना रखता हुआ कार्य को करता है उस से वह काम यथायोग्य सिद्ध नहीं होता इसी लिये भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है कि " कर्मण्येवाधिकारस्ते माफलेषु कदाचन " अर्थात् हे अर्जुन ! तुम्हारा कर्म करने में ही अधिकार—प्रवृत्ति हो किन्तु फलाभिलाषा में कदापि नहीं ॥ १२ ॥

शङ्कमानाःफलंयज्ञे येयजेरन्कथंचन ।
जायन्तेऽसाधवोधूर्त्ता लुब्धावित्तप्रयोजनाः ॥ १३ ॥

जो पुरुष यज्ञ में फल की शङ्का करते हुए किसी प्रकार यज्ञ करें वा करते हैं। वे यज्ञकर्त्ता मिथ्याकारी मिथ्याभिमानी धनार्थी लोभी धूर्त्त होते हैं॥१३॥

सम्यपापकृतांलोका-न्गच्छेदशुभकर्मणा ।
प्रमाणमप्रमाणेन यःकुर्यादशुभंनरः ॥
पापात्मासोऽकृतप्रज्ञः सदैवेहद्विजोत्तम ! ॥ १४ ॥

जो पुरुष अप्रमाण से प्रमाण को अशुभ वा असत्य ठहरा देवे वा ठहरा देता है वह उक्त अशुभ कर्म से पापियों के समान बुरे लोकों वा कुत्सित जन्मों को प्राप्त होता है । हे ब्राह्मणों में श्रेष्ठ ! वह पापात्मा पुरुष सदैव अज्ञान्धकार में पड़ कर दुःख का पात्र बना रहता है ॥ १४ ॥

कर्त्तव्यमितिकर्त्तव्यं वेत्तिवैब्राह्मणोऽभयम् ॥
ब्रह्मैववर्त्ततेलोके नैवकर्त्तव्यतापुनः ॥१५॥

जब ब्राह्मण यह विचारता है कि यह मेरा कर्त्तव्य है मुझ को ऐसा ही करना चाहिये इस प्रकार कर्त्तव्य को निर्भय जानता है तब संसार में उस को एकमात्र ब्रह्म नाम परमात्मा ही सर्वत्र वर्त्तमान दीखता है उस से भिन्न और कोई कर्त्तव्यता ब्राह्मण की शेष नहीं रह जाती है ॥ १५ ॥

मनुजी ने भी ब्राह्मण का तप ज्ञान कहा है । ब्रह्म नाम सारांश रूप बड़ा ही लोक में विद्यमान रहता है और अनित्य क्रिया साध्य कर्म नष्ट हो जाता है ॥

विगुणंचपुनःकर्म ज्यायइत्यनुशुश्रुम ।
सर्वभूतोपघातश्च फलभावेचसंयमः ॥१६॥

सुकृत कर्म की अपेक्षा दुष्ट कर्म बड़ा वा प्रबल है इस बात को हम सुनते आये हैं । इसी लिये सब प्राणियों को मारने वा पीड़ित दुःखित करने वाला संयमादि सुकृत द्वारा हिंसा के फल से नहीं बच सकता ॥१६॥

सत्ययज्ञादमयज्ञा अर्थलब्धार्थतृप्तयः ।
उत्पन्नत्यागिनःसर्वे जनाआसन्नमत्सराः ॥१७॥

सत्य यज्ञ कर्त्ता, दम यज्ञ कर्त्ता और उत्पन्न पदार्थ का त्याग करने वाले धन से तृप्त हुए सब मनुष्यों से भी मत्सरता (डाह) दूर नहीं होती ॥ १७ ॥

अर्थात् मध्यम कक्षा के धर्म का सेवन करने वालों का भी समीपस्थों के साथ द्वेष कुछ अवश्य रहता है इसी से वे परोक्षप्रिय देव होते हैं ॥

क्षेत्रक्षेत्रज्ञतत्त्वज्ञाः स्वयज्ञपरिनिष्ठिताः ।
ब्राह्मंवेदमधीयन्त-स्तोषयन्त्यपरानपि ॥१८॥

जो ब्राह्मणादि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के तत्त्व को जानने वाले ब्रह्मसम्बन्धी वेद को पढ़ते हुए वा मनन करते हुए अपने ब्रह्मयज्ञ वा ऋषियज्ञ में अत्यन्त अभ्यास रखते हैं वे स्वयं सन्तुष्ट हुए अन्यों को भी सन्तुष्ट करते हैं ॥१८॥

वेद में सारांश शुद्धांश त्रिकालाबाध्य सत्यांश का ही वर्णन है वही ब्रह्म कहाता लोक में भी सुवर्ण रत्नादि जो २ पृथिव्यादि का सारांश है वही बड़ा भी है। इसी से वेद ब्राह्म है ॥

अखिलंदैवतंसर्वं ब्रह्मब्रह्मणिसंश्रितम् ।
तुष्यन्तितृप्यतोदेवा-स्तृप्तास्तृप्तस्यजाजले! ॥१९॥

हे जाजले ! यह विस्तृत अग्नि, वायु आदित्यमय जगत् ब्रह्म के आश्रित वा ब्रह्म के आधारमें है। इस लिये ही अग्नि आदि देवता वा जगद्विख्यात विद्वान् महात्मा धर्मानुरागादि से तृप्त होते हुए तथा ब्रह्म के तृप्त सन्तुष्ट प्रसन्न होने पर ही संतुष्ट-प्रसन्न सुखी रहते हैं ॥ १९ ॥

सब देवतामय संसार ब्रह्म-बड़ा है इसी से ब्रह्म नाम बड़े में बड़ा ठहरा है। उसी ब्रह्म की प्रसन्नता अन्यों के सन्तोष का हेतु है ॥

यथासर्वरसैस्तृप्तो नाभिनन्दति किञ्चन ।
तथाप्रज्ञानतृप्तस्य नित्यतृप्तिःसुखोदया ॥२०॥

जैसे सब रसों से तृप्त हुआ मनुष्य किसी वस्तु को प्रसन्न (अभिनिन्दत) नहीं करता किन्तु उस की पूर्ण तृप्ति रहती है। वैसे ही ज्ञान से तृप्त हुए पुरुष को सुखोदय वाली तृप्ति सर्वदा के लिये उपस्थित रहती इस का आशय यह है कि ज्ञान तृप्ति के समान और कोई तृप्ति नहीं है इसी अभिप्राय को लेकर व्यास जी ने योगदर्शन के भाष्य में लिखा है कि:-

प्रज्ञाप्रासादमारुह्य, अशोच्यःशोचतोजनान् ।
भूमिष्ठानिवशैलस्थः सर्वान्प्राज्ञोऽनुपश्यति

अर्थात् मनुष्य बुद्धि के महलपर चढ़कर आप अशोच्य होता हुआ शोक करते हुए अन्य पुरुषों को इस प्रकार देखता है जैसे कोई बुद्धिमान् पुरुष पहाड़ पर चढ़ा हुआ पृथिवीस्थ जीवों वा मनुष्यों को छोटे २ देखे ॥२०॥

धर्माधाराधर्मसुखाः कृत्स्नव्यवसितास्तथा ।
अस्ति नस्तत्त्वतोभूय इतिप्राज्ञस्त्ववेक्षते ॥ २१ ॥

संसार में जो पुरुष धर्माधार, जिन में धर्म अधिक रहता और धर्म के द्वारा जो सुखी तथा विदितवेदितव्य हैं उन में जो अति बुद्धिमान् मनुष्य है, वह यही शोचता है कि–हमारा कर्म अवश्य रहता जन्मान्तर में फल देता तो यहां किये हिंसादि दुष्कर्म का फल हम को अवश्य भोगने पड़ेगा । इस लिये हिंसादिसे बचता है ॥ २२ ॥

ज्ञानविज्ञानिनःकेचित् परंपारंतितीर्षवः ।
अतीवपुण्यदंपुण्यं पुण्याभिजनसंहितम् ॥ २३ ॥
यत्रगत्वानशोचन्ति नच्यवन्तिव्यथन्तिवा ।
तेतद्ब्रह्मणःस्थानं प्राप्नुवन्तीहसात्त्विकाः ॥ २४ ॥

इस संसारसागर से पार होने की इच्छा वाले कोई ज्ञानविज्ञानवान् सर्वोत्तम कोटि के अति शुद्ध सात्त्विक पुरुष ही अत्यन्त सुखदायक, पवित्र तथा पवित्र पुरुषों से सेवित ब्रह्म के मुक्ति नामक स्थान को प्राप्त होते हैं कि जहां पहुंच कर कोई शोकातुर तथा दुःखित नहीं होते और वहां से कभी दुर्दशा में नहीं गिरते ॥ २३ । २४ ॥

नैवतेस्वर्गमिच्छन्ति नयजन्तियशोधनैः ।
सतांवर्त्मानुवर्त्तन्तो यजन्तेत्त्वविहिंसया ॥ २५ ॥
वनस्पतीनोषधींश्च फलंमूलंचतेविदुः ।
नचैतान्नृत्विजोलुब्धा याजयन्तिफलार्थिनः ॥ २६ ॥

मुक्ति सुख के अधिकारी स्वर्ग सुख की इच्छा नहीं करते और न यश तथा धन के लिये यज्ञ करते हैं किन्तु सत्पुरुषों के मार्ग का अनुवर्त्तन करते हुए हिंसा का सर्वथा त्याग करके यज्ञ करते हैं । वे महाशय वनस्पति, ओषधि, फल और मूल को ही हव्य पदार्थ जानते हैं लोभी धनार्थी ऋत्विज्–होता आदि उन को यज्ञ नहीं कराते हैं [प्रयोजन यह कि पूर्वकाल में जब पशुमार के यज्ञ होने लगे थे तब भी उत्तम कोटि के विद्वान् पशुवध नहीं करते थे] ॥ २५ । २६ ॥

स्वमेवचार्थंकुर्वाणा यज्ञंचक्रुःपुनर्द्विजाः ।
परिनिष्ठितकर्माणः प्रजानुग्रहकाम्यया ॥२७॥

फिर जब लोभी ऋत्विक्–होताओं ने निर्धन श्रद्धावान् पुरुषों को यज्ञ न कराये तब शुभकर्मकर्त्ता द्विजों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों) ने अपने २ प्रयोजनको सिद्ध करते हुए प्रजा के ऊपर दया की इच्छा से यज्ञ किया ॥२७॥

तस्मात्तानृत्विजोलुब्धा याजयन्त्यशुभान्नरान् ।
प्रापयेयुःप्रजाःसर्वं स्वधर्माचरणेनवै ॥२८॥

जब धर्मात्मा पुरुष स्वयं यज्ञ करने लगे तब ऋत्विक्–होताओं ने अशुभ–अनधिकारी नीच पुरुषों को यज्ञ कराना आरम्भ किया और समझा कि हम सब प्रजाओं को अपने धर्म के आचरण से स्वर्ग में पहुंचा सकेंगे ॥

इतिमेवर्त्ततेबुद्धिः समासर्वत्रजाजले ! ।
यानियज्ञेष्विहेज्यन्ति सदाप्राज्ञाद्विजर्षभाः ॥२९॥
तेनतेदेवयानेन यथायान्तिमहामुने ! ।
आवृत्तिस्तत्रचैकस्य नास्त्यावृत्तिर्मनीषिणः ॥३०॥

हे जाजले ! इस प्रकार पुरुषों के भेद होने पर भी मेरी सब में समानबुद्धि है । हे महामुने ! इस संसार में जो ब्राह्मणादि उत्तम कोटि के पुरुष हैं वे यज्ञादि द्वारा ज्ञान को प्राप्त हो कर देवयान कल्याण मार्ग से चलते हैं दुःख मार्ग में नहीं पड़ते परन्तु कोई एक जीव कल्याण मार्ग में पहुंच कर भी फिर २ दुःख सागर संसार बन्धन में पड़ते हैं पर शुद्ध विचारशील योगी विद्वान् फिर २ दुःख में नहीं पड़ते अर्थात् दैवी सम्पत्ति को स्वीकार करके फिर आसुरी नहीं पकड़ते ॥ ३० ॥

उभौतौदेवयानेन पथायान्तिमहामुने ! ।
स्वयंचैषामनडुहो युज्यन्तिचवहन्तिच ॥३१॥

वर्त्तमान शरीर के पश्चात् मुक्त होने वाले चरमदेह तथा योग सिद्धि को प्राप्त हुए फिर भी जन्म लेने वाले हे जाजले ! वे दोनो उत्तम मार्ग से चलने वाले हैं । और इन ऐसे जीवों के लिये बैल स्वयं जूए में जुड़ जाते और देशान्तर को ले चलते हैं ॥३१॥

स्वयमुस्राश्चदुह्यन्ते मनःसंकल्पसिद्धिभिः ।
स्वयंयूपानुपादाय यजन्तेस्वाप्तदक्षिणैः ॥३२॥

योगी पुरुषों की मन के संकल्पों की सिद्धियों से गौ स्वयं दुग्ध देने लगती वा स्वयं दुह जाती हैं । और ऋत्विज् लोग स्वयं यूपों-खम्भों को गाड़ के सुन्दर पूरी दक्षिणाओं से युक्त यज्ञ करते हैं ॥३२॥

यस्तथाभावितात्मास्यात् सगामालब्धुमर्हति ।
ओषधीभिस्तथाब्रह्मन् ! यजेरंस्तेनतादृशाः ॥३३॥

जो पुरुष इस उक्त प्रकार से सिद्ध हो जावे वह गौ को प्राप्त हो कर अर्थात् गौ के घृतादि से हवन कर सकता है । अन्य नहीं क्योंकि गौ से दुग्ध दुहना उस के प्रिय पुत्र बछड़े को भूखा रखना वा अमृतमय दुग्ध से वञ्चित करना शोचा जावे तो बड़ा पाप है । योगी अपने योगबल से [नास्ति योगसमं बलम्] गौ के दुग्ध को बढ़ा सकता है । और जो सामान्य दशा के पुरुष हैं उन को चाहिये कि वे अपनी योग्यतानुसार ओषधियों से यज्ञ करें करावें ॥

इतित्यागं पुरस्कृत्य तादृशं प्रब्रवीमिते ॥

ऐसे त्याग वा विचार को आगे करके वैसा (उक्त प्रकार का) कथन तुम से करता हूं वा किया ॥

निराशिषमनारम्भं निर्नमस्कारमस्तुतिम् ॥३४॥
अक्षीणंक्षीणकर्माणं तंदेवाब्राह्मणंविदुः ।

जो अभिलाषाओं से रहित, कार्यों का आरम्भ न करने वाला, समता को प्राप्त, किसी की निन्दा स्तुति न करने वाला आप अक्षीण निर्बल न हुआ आत्मिक बल से अतिपुष्ट परन्तु जिस के बन्धन हेतु कर्म क्षीण हो गये हैं उस को विद्वान् लोग ब्राह्मण जानते और मानते हैं ॥३४॥

नश्रावयन्नचयज-न्नददद्ब्राह्मणेषुच ॥
काम्यांवृत्तिंलिप्समानः कांगतिंयातिजाजले ! ।
इदन्तुदैवतंकृत्वा यथायज्ञमवाप्नुयात् ॥ ३६ ॥

वेदों का अध्यापन न कराता वा वैदिक धर्म का उपदेश न सुनाता, न यज्ञ करता और न उत्तम सुपात्र ब्राह्मणों को भी दान देता हुआ ऐसा काम

भोग के उद्देश से जीविका धनादि प्राप्ति का उद्योग करने वाला पुरुष हे जाजले ! किस दशा को प्राप्त होता है ? । अर्थात् यज्ञ, अध्ययन और दान ये ही तीन धर्म के स्कन्ध-प्रधान भाग हैं उन को त्याग के केवल संसारी सुख भोग को ही प्राप्त करना चाहता है उस की दशा अच्छी नहीं होती । परन्तु इस अध्यापनादि दैवी सम्पत् के कर्म को करके सर्वोपरि पूजनीय दशा वा निरतिशय सुखावस्था को प्राप्त हो जाता है ।। ३६ ।।

जाजलिरुवाच-नवैमुनीनांशृणुमःस्मतत्त्वं पृच्छामितेवाणिज ! कष्टमेतत्। पूर्वंपूर्वंचास्यनावेक्षमाणा नातःपरंतमृषयःस्थापयन्ति ॥ ३७ ॥

जाजलि कहते हैं कि हे तुलाधार—वैश्य ! हमने ऋषिमुनियों का दृढ़ विचार इस विषय में नहीं सुना वा जाना इस से इस कठिन विषय का तत्त्व मैं तुमसे ही पूछता हूं । पूर्वज लोग पहिले हो चुके अब के वर्त्तमान को वे नहीं देखते । इस से भिन्न वा विरुद्ध हिंसादि व्यवहार को यज्ञादि के साथ ऋषिलोग स्थापित नहीं करते वा यज्ञादि में पशुवधादि निकृष्ट मर्यादा चलानेवाले ऋषि नहीं कहाते ।। ३७ ।।

अभिप्राय यह है कि तुलाधार ने कोई प्रश्न जाजलि से नहीं किया किन्तु श्रोता को विशेष बोध कराने के लिये बीच २ श्रोता से प्रश्न के रूप २ में कहर कर उत्तर देना अच्छा होता है । सारांश यह कि हिंसा सब से बड़ा अधर्म है वह यज्ञादि के बहाने से हो तो भी बुरा है सब प्रकार की स्थूल सूक्ष्म हिंसा से बचनेवाला ही कल्याण भागी होता यही तुलाधार तथा जाजलि का भी भीतरी आशय है ।।

यस्मिन्नेवात्मतीर्थे न पशवःप्राप्नुयुःसुखम् ।
अथस्मकर्मणाकेन वाणिज ! प्राप्नुयात्सुखम् ।
शंसतन्मेमहाप्राज्ञ ! भृशंवैश्रद्दधामिते ॥ ३८ ॥

जिस आत्म तीर्थ नाम उन के तरजाने के लिये तीर्थ माने हुए यज्ञ में पशुओं को प्रथम से ही सुख प्राप्त नहीं होता तो हे वैश्य ! मरणान्तर उस यज्ञ के किस कर्म से पशु वा यजमान सुख को प्राप्त हो सक्ता है ? । हे बुद्धिमन् ! वैश्य! आप कृपा करके इस बात का उत्तर दीजिये मैं आप के वचन में अत्यन्त श्रद्धा रखता हुआ पूछताहूं ।। ३८ ॥

तुलाधार उवाच–उतयज्ञाउतायज्ञा मखंनार्हन्तितेक्वचित् ।
आज्येनपयसादध्ना पूर्णाहुत्याविशेषतः ॥३९॥

जो पशुवधादि के सम्बन्ध से यज्ञ वा अयज्ञ नाम होम न होने से यज्ञ से भिन्न कहलाते हैं वे मख नाम वाले कहीं कभी नहीं हो सक्ते क्योंकि मखनाम संसार के सुधार वा सुदशा के लिये होने वाले यज्ञ का यौगिकार्थ से है और पशुवध से संसार की प्रत्यक्ष हानि है। तथा जो घृत, दुग्ध, और दधि की पूर्णाहुति से यज्ञ किये जाते हैं वे तो विशेष कर मखसंज्ञा वाले हो सक्ते हैं ॥ ३९ ॥

वालैःशृङ्गेणपादेन सम्भरत्येवगौर्मखम् ।
पत्नीचानेनविधिना प्रकरोतिनियोजनम् ॥ ४० ॥

गौ अपने रोमों, सींग पैर (पग) आदि से मखनात्मक यज्ञ को पूरा करती है [अर्थात् यज्ञ करने के सम्भार पुष्टि में गौ के सब अंशों से निकलने वाला दूध घी सर्वोपरि उपकारी है] और यजमान की पत्नी भी गौ के ही कारण यज्ञ में नियुक्त होती है ॥४०॥

इष्टंतुदैवतंकृत्वा यथायज्ञमवाप्नुयात् ।

सर्वत्र व्याप्त अग्नि आदि देवतों की शुद्धिरूप पूजा करके जैसे देवता यज्ञ को नाम पूजा को प्राप्त हों वैसा देवयज्ञ करे ॥

पुरोडाशोहिसर्वेषां पशूनांमेध्यउच्यते ।
सर्वानद्यःसरस्वत्यः सर्वेपुण्याःशिलोच्चयाः ।
जाजले! तीर्थमात्मैव मास्मदेशातिथिर्भव ॥४२॥

जैसे सब नदियां सरकने चलने वाली होने से सरस्वती हो सकतीं, और सब पहाड़ पवित्र शुद्ध हो सकतेहैं वैसे सब पशुओंके मांसादि विकार का भी पुरोडाश हो सकता है । परन्तु तथापि सब नदियां सरस्वती नहीं कहातीं किन्तु जिस में सरस्वती शब्द का अर्थ अधिक घटता वह सरस्वती कहाती है वैसे ही पशुविकार मांसादि का पुरोडाश अच्छा नहीं हो सकता इसी से अन्नों का पुरोडाश होना चाहिये। जैसे कुत्ते काभी मांस खाया जासकता है पर उस को मांसाहारी भी प्रायः नहींखाते । हे जाजले! एक परमेश्वर की उपासना ही परम तीर्थ है उसी का मनन, ध्यान और निदिध्यासन करो देश २ में भटकते मत फिरो ॥४२॥

एतानीदृशकान्धर्मा-नाचरन्निहजाजले ! ।
कारणैर्धर्ममन्विच्छन् सलोकानाप्नुतेशुभान् ॥४३॥

हे जाजले ! जो पुरुष इस लोक में इस प्रकार के धर्मों का आचरण करता हुआ कारणवाद पूर्वक धर्म का निश्चय वा खोज करता है वह सुखकारी लोकों वा जन्मों वा मुक्ति सुख को प्राप्त होता है ॥४३॥

भीष्म उवाच-एतानीदृशकान्धर्मा-न्तुलाधारःप्रशंसति ।
उपपत्त्याभिसम्पन्नान् नित्यंसद्भिर्निषेवितान् ॥

भीष्म जी युधिष्ठिर से कहते हैं कि हे युधिष्ठिर ! तुलाधार वैश्य ने युक्तियुक्त तथा सत्पुरुषों से नित्य सेवित (उक्त प्रकार के) धर्मों की अत्यन्त प्रशंसा की है ॥

इति शान्तिपर्वणि तुलाधारजाजलिसंवादे २६२ अध्यायः ॥

तुलाधारउवाच-सद्भिर्वायदिवाऽसद्भिः पन्थानमिममास्थितम्।
प्रत्यक्षंक्रियतांसाधु ततोज्ञास्यसितद्यथा ॥१॥

तुलाधार जाजलि से बोले कि हे तपस्विन् ! सत्पुरुष वा असत्पुरुषों से सेवित इस अहिंसारूप धर्ममार्ग को देखो । और इस को प्रत्यक्ष करो कि अहिंसा धर्म कैसा बढ़ा चढ़ा है आशा है कि तुम को प्रत्यक्ष करने से अहिंसा धर्म सर्वोपरि भली भांति विदित हो जायगा ॥ १ ॥

एतेशकुन्ताबहवः समन्ताद्विचरन्तिह ।
तवोत्तमाङ्गेसम्भूताः श्येनाश्चान्याश्चजातयः ॥२॥

हे जाजले ! तुम्हारे शिर में पले हुए श्येन (बाज) और अन्य जाति के बहुत से पक्षी चारों ओर फिरते हैं ॥

आहूयैतान्महाब्रह्मन् ! विशमानांस्ततस्ततः ।
पश्येमान्हस्तपादैश्च श्लिष्टान्देहेषुसर्वशः ॥३॥

हे उत्तम ब्राह्मण ! इधर उधर घुसते हुए पक्षियों को बुलाओ । और इन सब पक्षियों को हाथ पगों से अपने देह वा शरीरावयवों में निःशङ्क चिपटे

हुए देखो । अर्थात् तुम हिंसा पाप से रहित अहिंसा धर्म में परीक्षोत्तीर्ण हो तो तुम से सब जीव जन्तु निर्भय होजायगे ॥३॥

सम्भावयन्तिपितरं त्वयासम्भाविताःखगाः ।
असंशयंपितावैत्वं पुत्रानाहूयजाजले ! ॥ ४ ॥

हे जाजले! अपने पिता की ओर सभी झुकते पिता को सभी जानते मानते वा पहचान लेते हैं तुमने पक्षियों का पालन पोषण कर उन को बड़ा किया इस पालन करने से अवश्य तुम उन पक्षियों के पिता हो इस लिये तुम अपने पुत्र समान पक्षियों को बुलाओ ! ॥ ४ ॥

भीष्मउवाच-ततोजाजलिनातेन समाहूताःपतत्रिणः ।
वाचमुच्चारयन्तिस्म धर्मस्यवचनात्किल ॥ ५ ॥

भीष्म जी युधिष्ठिर से कहते हैं कि हे युधिष्ठिर ! तुलाधार के कहने पर जाजलि महात्मा ने पक्षियों को बुलाया और उन पक्षियों ने धर्म की आज्ञानुसार अगली अधर्म की बातें कहीं [उन को अगले श्लोकों में देखो] ॥ ५ ॥

अहङ्कारकृतंकर्म इहचैवपरत्रच ।
श्रद्धांनिहन्तिवैब्रह्मन् ! साहताहन्तितंनरम् ॥ ६ ॥

पक्षियों ने कहा कि हे ब्राह्मण ! जाजले ! अहङ्कार से किया हुआ अहिंसादि कर्म श्रद्धा को नष्ट करता और नष्ट हुई श्रद्धा श्रद्धाघातक पुरुष को नष्ट करती है इसी अभिप्राय से व्यासजी ने योगदर्शन के भाष्य में लिखा है कि:- श्रद्धा चेतसः सम्प्रसादः । साहि जननीव कल्याणी योगिनं पाति० इत्यादि अर्थात् श्रद्धा चित्त की प्रसन्नता कहलाती है वह कल्याण कारिणी श्रद्धा श्रद्धावान् (योगी) की माता के समान रक्षा करती है । इस से जो अपनी रक्षा चाहता है वह श्रद्धा की रक्षा करे ॥ ६ ॥

समानांश्रद्दधानानां संयतानांसुचेतसाम् ।
कुर्वतांयज्ञइत्येव नयज्ञोजातुनेष्यते ॥ ७ ॥

सब में समान दृष्टि रखने वाले, श्रद्धावान् जितेन्द्रिय, शुद्धचित्त, ज्ञानवान् और यज्ञ (इस पद वाच्य) कर्म को करते हुए पुरुषों का यज्ञ अवश्यमेव होना चाहिये । उक्त प्रकार के पुरुषों का यज्ञ कदापि न रुकना चाहिये ॥ ७ ॥

यहां यज्ञइत्येव कहने का आशय यह है कि जिस कर्म में केवल यजनपूजन सत्कार परोपकार वा शुद्धि ही हो वही केवल यज्ञ है तथा जहां पशुवधादि हो वहां अशुद्धि तथा परोपकार ही न होने से केवल यज्ञ नहीं है ॥

श्रद्धावैवस्वतीसेयं सूर्यस्यदुहिताकिल ।
सावित्रीप्रसवित्रीच बहिर्वाङ्मनसीतत: ॥ ८ ॥

यह श्रद्धा विवस्वान् नामक सूर्य की पुत्री है और अनेक शुभगुणों को उत्पन्न करती है तथा बाहिरी क्रिया से प्रतीत होने वाले वाणी और मन श्रद्धासे ही प्रकट होते हैं। अर्थात् निश्चयात्मिका निरन्तर धारित रहने वाली बुद्धि ही श्रद्धा है वह सूर्य का एक सूक्ष्म तेज है । इसी से सविता धी का प्रेरक स्वभाव सिद्ध है ॥ ८ ॥

वाग्वृद्धंत्रायतेश्रद्धा मनोवृद्धंचभारत ! ।
श्रद्धावृद्धंवाङ्मनसी नयज्ञस्त्रातुमर्हति ॥ ९ ॥

भीष्म जी युधिष्ठिर से कहते हैं कि हे भरतकुलोत्पन्न युधिष्ठिर ! श्रद्धा उपदेशक, और जितेन्द्रिय पुरुष की रक्षा करती है। और जो श्रद्धावान् होता है उस की रक्षा मन और वाणी करती है। परन्तु श्रद्धा रहित पुरुष की यज्ञ रक्षा नहीं कर सकता ॥ ९ ॥

अर्थात् निरन्तर धारण करने का नाम श्रद्धा है और निरन्तर धारण हुए विना मन वाणी से कोई काम ठीक होता नहीं । इस से निरन्तर धारण किया मन वाणी से होने वाला कर्म श्रद्धापूर्वक होने से रक्षा करता है ॥

अत्रगाथाब्रह्मगीता: कीर्त्तयन्तिपुराविद: ॥

इस विषय में ऐतिहासिक लोग, ब्रह्मा नाम मनु से कही हुई गाथाओं को कहते हैं ॥ १० ॥

शुचेरश्रद्दधानस्य श्रद्दधानस्यचाशुचे: ॥
देवावित्तममन्यन्त सदृशंयज्ञकर्मणि ॥ ११ ॥

देव-दैवीसम्पद् वालों ने श्रद्धा रहित पवित्र और श्रद्धावान् अपवित्र की योग्यता वा उस के तथा धनादि पदार्थों को यज्ञकर्म में समान समझा अर्थात् देखने मात्र ऊपरी शुद्धि व्यर्थ हुई ॥

श्रोत्रियस्यकदर्यस्य वदान्यस्यचवार्धुषेः ।
मीमांसित्वोभयंदेवाः सममन्नमकल्पयन् ॥ १२ ॥

श्रद्धा रहित कृपण कंजूस और श्रद्धालु सूद खोर व्याजखाने वाला इन दोनों प्रकार के पुरुषों की मीमांसा विचार करके दोनों के अन्नों को देव-आस्तिक विद्यावान् आर्यों ने बराबर समझा ॥ १२ ॥

तान्प्रजापतिराहैत्य माकृध्वंविषमंसमम् ।
श्रद्धापूतवदान्यस्य हतमश्रद्धयेतरत् ॥
भोज्यमन्नंवदान्यस्य कदर्य्यस्यनवार्द्धुषेः ॥ १३ ॥

तब प्रजापति नाम उन देवों में प्रधान पुरुषने अन्य देवों से जाकर कहा कि तुम लोगों ने ठीक न्याय नहीं किया विषम को सम ठहराया उचित यह था कि श्रद्धावान् पुरुष का अन्न श्रद्धा से पवित्र है और श्रद्धारहित पुरुष का अन्न श्रद्धा के विना हत निकृष्ट अग्राह्य हानिकारक है अत एव श्रद्धावान् कुसीद जीवी का उत्तम होने से अन्न भोज्य है। तथा श्रद्धारहित वेदपाठी का भी अन्न त्याग करने योग्य है ॥ १३ ॥

अश्रद्दधानएवैको देवानांनार्हतेहविः ।
तस्यैवान्नंनभोक्तव्य—मितिधर्मविदोविदुः ॥ १४ ॥

श्रद्धारहित पुरुष देव-अग्नि, वायु, आदित्यादि को हवन से तृप्त करने का अधिकारी नहीं है । जो पुरुष श्रद्धारहित है उस का कदापि अन्न न खाना चाहिये इस बात को धर्मज्ञ पुरुष जानते वा कहते हैं ॥ १४ ॥

अश्रद्धापरमंपापं श्रद्धापापप्रमोचनी ।
जहातिपापंश्रद्धावान् सर्पोजीर्णामिवत्वचम् ॥ १५ ॥

अश्रद्धा बड़ा पाप है और श्रद्धा मनुष्य को पापों से छुड़ाने वाली है । जिस प्रकार सर्प अपनी पुरानी कांचली को छोड़ कर सुख को प्राप्त होता है उसी प्रकार श्रद्धावान् पुरुष पाप को छोड़ कर सुख का भागी होता है ॥१५॥

ज्यायसीयापवित्राणां निवृत्तिःश्रद्धयासह ।
निवृत्तशीलदोषोयः श्रद्धावान्पूतएवसः ॥ १६ ॥

श्रद्धापूर्वक कर्मों की निवृत्ति बड़ी और कल्याण करने वाली है । जिस के शील और दोष निवृत्त हो गये हैं वह श्रद्धावान् बड़ा पवित्र और मुक्ति सुख का अधिकारी है । इस विषय में योगदर्शन का सूत्र है कि:—

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् । योगद० प्रथम पाद २० सूत्र । इस के ऊपर व्यास जी लिखते हैं कि:—

श्रद्धा=चेतसः सम्प्रसादः सा हि जननीव कल्याणी योगिनं पाति'तस्य हि श्रद्दधानस्य=विवेकार्थिनो वीर्य्यमुपजायते, समुपजातवीर्यस्य स्मृतिरुपतिष्ठते, स्मृत्युपस्थाने च चित्तमनाकुलं समाधीयते, समाहितचित्तस्य प्रज्ञाविवेक उपावर्त्तते येन यथावद्वस्तु जानाति—तदभ्यासात् तद्विषयाच्च वैराग्यादसंप्रज्ञातः समाधिर्भवति ॥

अर्थात् चित्त की प्रसन्नता श्रद्धा कहलाती है वह कल्याण करने वाली माता के समान रक्षा करती है । श्रद्धावान्—विवेकी पुरुष का पराक्रम बढ़ता है, बढ़े हुए पराक्रम वाले की स्मृति अच्छी हो जाती है, स्मृति के उपस्थित होने पर चित्तकी घबराहट जाती रहती है, समाहित चित्त वाले की प्रज्ञा (विवेक) उस के पास आती है जिस से उसे यथावत् ज्ञान हो जाता है उस के बार २ करने तथा उस विषय के वैराग्य से "असम्प्रज्ञात" समाधि होता है जो मोक्ष का साक्षात् कारण है ॥ १६ ॥

किंतस्यतपसाकार्य्यं किंवृत्तेनकिमात्मना ।
श्रद्धामयोऽयंपुरुषो योयच्छ्रद्धःसएवसः ॥१७॥

जिस पुरुष में श्रद्धा विद्यमान है उसे तप करने आचरण सुधारने, आत्मा के ऊपर लिफाफा चढ़ाने शरीर को अच्छा बनाने आदि से कोई प्रयोजन नहीं है । क्योंकि एक ठीक शुद्ध दशा की श्रद्धा के होने पर अनेक वास्तविक अच्छे गुण स्वयमेव आजाते हैं । यह जीवात्मा स्वभाव से श्रद्धा स्वरूप ही है इस कारण जिस में जिस कक्षा की श्रद्धा है वह उसी कक्षा का पुरुष जीवात्मा है ॥१७॥

निरन्तर धारण, स्वरूपावस्थित होना, किसी का दोष उस में न लगना, परिणामी न होना, एक रस रहना ये सब जीवात्मा में श्रद्धा की स्थिति होने पर ही संघटित होते हैं ॥

इतिधर्मःसमाख्यातः सद्भिर्धर्मार्थदर्शिभिः ।
वयंजिज्ञासमानास्तु सम्प्राप्ताधर्मदर्शनात् ॥१८॥

वे पक्षी जाजलि से कहने लगे कि–हे जाजले ! धर्म, अर्थ को जानने दे-खने वाले सत्पुरुषों ने उक्त प्रकार का धर्म व्याख्यान पूर्वक कहा है । हम धर्म जानने के कारण तुम से धर्म विषयक जिज्ञासा करते हुए यहां आये हैं ॥१८॥

ये उत्तमोत्तम शिरस्थान में प्रकट होने के कारण पक्षी क्या जानो धर्म स-म्बन्धी शुद्ध विचारांश हैं जिनने जाजलि को पुनरुपदेश किया ॥

श्रद्धांकुरुमहाप्राज्ञ ! ततःप्राप्स्यसियत्परम् ।
श्रद्धावान्श्रद्दधानश्च धर्मश्चैवहिजाजले ! ॥
स्ववर्त्मनिस्थितश्चैव गरीयानेवजाजले ! ॥१९॥

हे महाबुद्धिमन् ! जाजले ! तुम प्रथम श्रद्धा करो पश्चात् जो पर–मुक्ति सुख है उस को प्राप्त होवोगे। क्योंकि श्रद्धावान् श्रद्धा करते हुए पुरुषों को ही धर्म की प्राप्ति हो सकती है । हे जाजले ! जो पुरुष धर्म के मार्ग (मर्यादा) में स्थित है वही सब से बड़ा है ॥

जाजलि का वह तप जिस में पक्षी बच्चों का पालन करते हुए शिर भी न हिलाया अहङ्कार के संकल्प से था किन्तु श्रद्धा पूर्वक नहीं था इसी से का-र्य की पूर्त्ति में जाजलि ने अभिमान वा विशेष प्रसन्नता से कहा कि मुझ को धर्म प्राप्त हो गया। इसी से विदित हुआ था कि जाजलि ने धर्म को नहीं जा-ना । इस से श्रद्धा का अन्तिम उपदेश है ॥१९॥

भीष्मउवाच–ततोऽचिरेणकालेन तुलाधारःसएवसः ।
दिवंगत्वामहाप्राज्ञौ विहरेतांयथासुखम् ॥२०॥

भीष्म युधिष्ठिर से कहते हैं कि–बाद थोड़े ही दिनों में महाबुद्धिमान् तुलाधार और जाजलि प्रकाशमय मुक्ति सुख को प्राप्त हो कर स्वेच्छानुसार विहार करने लगे ॥२०॥

स्वस्वस्थानमुपागम्य स्वकर्मपरिवर्जितम् ।
एवंबहुविधार्थंच तुलाधारेणभाषितम् ॥२१॥

अपने २ कर्मपन से रहित कर्म को करते हुए तुलाधार और जाजलि गुरु और शिष्य बने । [जाजलि तपस्वी ब्राह्मण था और तुलाधार वनिया था यहां गुरु होने योग्य जाजलि को शिष्य बनने पड़ा और तुलाधार गुरु हुआ] तुलाधार ने इस प्रकार अनेक शाखा प्रशाखा वाले धर्म को कहा जो बड़ा विचित्र और ठीक था जिस का सारांश लेकर यहां वर्णन किया गया है ॥२१॥

सम्यक्चेदमुपालब्धो धर्मश्चोक्तः सनातनः ।
तस्यविख्यातवीर्य्यस्य श्रुत्वावाक्यानिसद्विजः ।
तुलाधारस्यकौन्तेय ! शान्तिमेवान्वपद्यत ॥२२॥

जाजलि मुनि ने तुलाधार के कथन को अच्छे प्रकार हृदय में धारण कर लिया । और तुलाधार ने सनातन धर्म को कहा । भीष्म जी युधिष्ठिर से कहते हैं कि हे कुन्ती के पुत्र ! युधिष्ठिर ! वह जाजलि ब्राह्मण प्रसिद्ध श्रद्धा वीर्य वाले तुलाधार के वचनों को सुन कर एकमात्र शान्ति को ही प्राप्त हुआ ॥२२॥

एवंबहुमतार्थंच तुलाधारेणभाषितम् ।
यथौपम्योपदेशेन किंभूयःश्रोतुमिच्छसि ॥२३॥

फिर कहते हैं कि हे राजन् ! तुलाधार ने इस प्रकार सब कामनाओं को पूरा करने वाले धर्म को यथायोग्य रीति से कहा । अब तुम और क्या सुनना चाहते हो ? ॥ २३ ॥

श्री भीमसेनशिष्येण श्यामलालेन शर्म्मणा ।
इदं प्रत्नमुपाख्यानं भाषयाविशदीकृतम् ॥
प्राणवाणाङ्कचन्द्रेऽब्दे ह्याषाढस्यसितेदले ।
द्वितीयस्यांभृगौवारे टीकापूर्त्तिमगादियम् ॥

इतिशान्तिपर्वणि तुलाधारजाजलिसंवादे
२६३ त्रिषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥
समाप्तं चेदमुपाख्यानम् ॥

ओ३म् ॥

निवेदनम् ॥

सरस्वतींयोहृदयेदधाति, सदासमाश्लिष्टतनुःश्रियापि ।
छात्रानहोरात्रमिहप्रकर्षन्, प्रपाठयन्वेदधुरंमहेच्छः ॥
वेदान्विजानातिसुखंमहात्मा, यस्तन्त्रजातंनिखिलंव्यपश्यत्।
विधास्यतेसम्प्रतिवेदभाष्यं, श्रीभीमसेनःस गुरुर्मतो मे ॥
भाषयेदमुपाख्यानं, मयाहिसरलीकृतम् ।
गुरुणागुरुभावेन, गुर्वर्थेनसुभूषितम् ॥

ह०—श्यामलाल शर्म्मा

विज्ञापन ॥

कई मित्रों तथा देशहितैषियों के अनुरोध से हमने प्रथम अथर्ववेद के भाष्य करने का संकल्प कर लिया है और आवश्यकता समझेंगे तो अथर्व भाष्य छपने के पश्चात्—सामवेद का भी भाष्य छपावेंगे। अथर्ववेद भाष्य का मासिक अङ्क ५ फारम ४० पेज पुष्ट रायल कागज में निकलेगा वार्षिक मूल्य इस का २।) मात्र डांकव्यय सहित होगा । मूल्य भेजने के लिये हम पीछे से सूचना देवेंगे ग्राहक बनने के लिये लोग शीघ्र २ सूचना भेजें अर्थात् जिन महाशयों को अथर्ववेदभाष्य शीघ्र देखनेकी इच्छा हो, वे लोग ग्राहक वढ़ानेका उद्योग अवश्य [illegible] ॥

ह० भीमसे[illegible]

मूल्य घटाये हुए पुस्तकों का सूचीपत्र–

"आर्यसिद्धान्त पूर्व का छपा आठ भाग ९६ अङ्क इकट्ठा लेने पर सब का मूल्य ४) होगा पृथक् २ प्रति भाग ॥=) ईश =)। केन ≡) कठ ॥=) प्रश्न॥) मुण्डक ॥) माण्डूक्य =)॥ तैत्तिरीय ॥=) ऐतरेय ।-) श्वेताश्वतर ॥=) इन नव ९ उपनिषदों पर संस्कृत और नागरी में अब तक अच्छा भाष्य होचुका है। ९ उपनि० भाष्य इकट्ठे लेने वालों को ३।=) मनुस्मृति का धर्मान्दोलन सहित संस्कृतनागरी में भाष्य ३ अध्याय १ प्रथम जिल्द मूल्य २॥) भगवद्गीता का ठीक शुद्ध २ संस्कृत नागरी में भाष्य १॥) पं० चिन्तामणि की बनाई आल्हा)॥ गणरत्नमहोदधि –व्याकरण गणपाठ की संस्कृत व्याख्या और मूल श्लोक तथा अकारादि शब्द सूची सहित १) अष्टाध्यायी भाषाटीका १॥) आयुर्वेदशब्दार्णव कोष ॥) भर्तृहरि नीतिशतक भाषाटीका =)॥ भर्तृ० वैराग्यशतक भाषाटीका ≡) यमयमीसूक्त का अच्छा ठीक २ व्यवस्थायुक्त संस्कृत और भाषा भाष्य –)॥ ब्राह्मसमाज के मन्तव्य की परीक्षा =) जीवसान्तविवेक –) विदुरनीति मूल टिप्पणी सहित =) सद्विचारनिर्णय –) मांसभोजन के तीनों भागों का प्रबल युक्ति प्रमाणों के साथ नागरी में खण्डन–प्रथम भाग का –) द्वितीय =) तृतीय का =)॥ स्थावर में जीवविचार –) पुत्रकामेष्टिपद्धति –)। पुनर्जन्म का पूरा व्याख्यान =)॥ अष्टाध्यायी मूल प्रकरणों सहित ≡) देवनागरी की वर्णमाला)।१०० पुस्तक १) में (यहां से आगे अन्यों के बनाये पुस्तक) ऐतिहासिकनिरीक्षण मू०=) सुमतिसुधाकर मू० ≡)॥ गणितारम्भ प्रथम पढ़ाने योग्य –) नीतिसार –) द्वितीय पुस्तक =)॥ प्रश्नोत्तर शतक मू० =) दशोपनिषद् मूल ।) स्वर्ग में सबजेक्ट कमेटी मू० –)॥ शास्त्रार्थखुर्जा –) सभाप्रसन्न ।) संस्कृतप्रथमश्रेणि –) पाखण्डमतकुठार –) सत्यसंगीत भजन)। सदुपदेश भजन आधा पैसा । आरती नित्य वा उत्सव पर गाने के लिये)। में दो । आर्यसमाज के नियम ≡)। सैकड़ा । व्याख्यान का सामान्य विज्ञापन =) प्रति सैकड़ा । अबलाविनय (पं०बदरीप्र०कृत) ≡) विवाहव्यवस्था =) जगद्वशीकरण –) कस्तूरी –) बालबोध –) शिक्षाध्याय)॥ न्यायदर्शनमूलसूत्र [illegible] भजनामृतसरोवर =) संगीतरत्नाकर =) भामिनीभूषण ।) आर्यतत्त्वदर्पण [illegible] चिप्रारण –)॥ कन्यासुधार –) संगीतसुधासागर –) वेश्यालीला नई)॥ सजीवनी [illegible] लहानई –)॥ सत्यार्थप्रकाश पुष्ट कागज का २॥) सामान्य कागज का २) ऋग्वे०भूमिका २॥) संस्कारविधि १।) आर्याभिविनय ।) पञ्चमहायज्ञविधि ≡)॥ इत्यादि । विशेष वृत्तान्त बड़ा सूची मंगाकर देखो । ५) रु० में ६।) के पुस्तक मिलेंगे । १०) से आगे २ अधिक २ कमीशन दिया जायगा ॥

पता–भीमसेन शर्मा   सम्पादक आर्यसिद्धान्त–इटावा   (पश्चिमोत्तरदेश)

का
सु-
व ९
नि०
ना-
द्व २
दधि
शब्द
हरि
सूक्त
ज के
त =)
साथ
र में
अष्टा-
(यहां
प्राकर
=)॥
शा-
संगीत
ने के
सान्य
वस्था
लसूत्र
दर्पण
ई)॥
ज का
विधि
के पु-
(देश)